॥ श्रीः ॥

श्रीबालमुकुन्द-ग्रन्थमाला—२



# न्यासविंशति

रचयिता :—

सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र कवितार्किकसिंह वेदान्ताचार्य

श्रीवेङ्कटनाथदेशिक (श्रीवेदान्तदेशिक)



हिन्दी व्याख्याकार।—

श्रीभाष्यसिंहासनाधिपति

स्वामी श्रीनीलमेघाचार्य जी काशी



संवत् २०१४ } 卐 { सन् १९५७



* श्रीः *

श्रीबालमुकुन्द-ग्रन्थमाला–२

    

# न्यासविंशति

रचयिता :—

सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र कवितार्किकसिंह वेदान्ताचार्य

## श्रीवेङ्कटनाथदेशिक (श्रीवेदान्तदेशिक)



हिन्दी व्याख्याकार :—

श्रीभाष्यसिंहासनाधिपति

स्वामी श्रीनीलमेघाचार्य जी काशी



संवत् २०१४ } 卐 { मूल्य १)

व्यवस्थापक

श्रीबालमुकुन्द ग्रन्थमाला

श्रीरमा वैकुण्ठ

पुष्कर ( अजमेर )

प्रथम सस्करण

संवत् २०१४

सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक,

राघवाचार्य

प्रकाशक — श्रीआचार्यपीठ

मुद्रक — आचार्य प्रेस

बरेली (उत्तर प्रदेश)

# ❀ निवेदन ❀



सनातनधर्म ने भगवत्प्राप्ति के दो साधन बताये हैं एक भक्ति और दूसरे शरणागति। अनन्त अपौरुषेय वेद वाङ्मय से लेकर पूर्वाचार्यों की वाणी तक सर्वत्र इन दोनों साधनों का प्रतिपादन किया गया है। इन दोनों साधनों में से भक्तिमार्ग के लिये विशेष प्रकार के साधक चाहिये। शरणागति मार्ग का द्वार सबके लिये खुला है। इतना ही नहीं, भक्तिमार्ग की साधना में शरणागति की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार शरणागति सार्वभौम पथ है।

आचार्य सार्वभौम श्रीवेदान्तदेशिक ने इस सार्वभौम पथ के विवेचन में कई ग्रन्थ लिखे हैं। **'न्यासविंशति'** उनमें से एक है। न्यास शरणागति का ही दूसरा नाम है। न्यासविंशति के बीस श्लोकों में शरणागति शास्त्र का संक्षेप है। इक्कीसवें श्लोक में उपसंहार तथा बाईसवें श्लोक में आचार्य ने अपने अनुष्ठान का वर्णन कर दिया है। शरणागति मार्ग के साधकों के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

श्रीभाष्यसिंहासनाधिपति स्वामी श्रीनीलमेघाचार्य जी ने इस ग्रन्थ की हिन्दी में सुन्दर, सरल और स्पष्ट व्याख्या की है।

वैकुण्ठवासी सेठ श्री मगनीराम जी बाँगड़ की पुण्य स्मृति में उनके आचार्य अनन्तश्रीसमलंकृत जगद्गुरु उत्तराहोबिल झालरियामठाधीश्वर स्वामी श्रीबालमुकुन्दाचार्य महाराज के नाम से **'श्रीबालमुकुन्द-ग्रन्थमाला'** का आरम्भ हो चुका है। उसके द्वितीय पुष्प के रूप में हिन्दी व्याख्या समेत इस **'न्यासविंशति'** को प्रकाशित किया जा रहा है। प्रेमी पाठकगण इसे अपना कर अनुगृहीत करेंगे, ऐसा विश्वास है।

—सम्पादक

## ❀ विषय-सूची ❀





श्रीमते लक्ष्मीहयवदनपरब्रह्मणे नमः
श्रीमते रामानुजाय नमः
श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः

# श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकैरनुगृहीता

# न्यासविंशतिः

श्रीमान् वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किककेसरी ।
वेदान्ताचार्यवर्यो मे सन्निधत्तां सदा हृदि ॥

विषय प्रवेश

सम्पूर्ण जगत की सृष्टि-स्थिति-संहारकर्ता, नित्य निर्दोष, समस्त कल्याणगुणनिधि, कलियुगप्रत्यक्षदेव, सर्वशक्तिसम्पन्न, विचित्रलीला-परायण श्रीवेङ्कटेश भगवान् के दिव्य घण्टा के अवतार स्वरूप श्रीदेशिक स्वामी जी ने २० वर्षों में सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन किया, ३० वार श्रीभाष्य कालक्षेप—जो कि श्री भाष्यकार स्वामी जी की चरम आज्ञा के अनुसार प्रथम कैंकर्य माना जाता है—सुनाया। उन्होंने श्री रङ्गनाथ भगवान् की दिव्य आज्ञा के अनुसार **वेदान्ताचार्य** विरुद, श्री रंगनायिका महालक्ष्मी जी की आज्ञा से **सर्वतन्त्रस्वतन्त्र** विरुद तथा विद्वानों के अनुरोध से **कवितार्किकसिंह** विरुद को पाया। श्रीदेशिक स्वामी जी ने १२१ ग्रन्थों का निर्माण कर जगत में फैले हुये सब तरह के अज्ञानान्धकार को दूर किया।

श्रीदेशिक स्वामी जी जब श्रीरङ्ग में विराजते थे, तब वहाँ रहने वाले दिव्यप्रबन्धरसिक बड़े २ विद्वानों ने श्रीदेशिक स्वामी जी से प्रार्थना की कि श्रीमान् वेद आदि शास्त्रों के नाना प्रकार के परस्पर विरुद्ध वचनों का समन्वय करते हुये न्यासविद्या अर्थात् शरणागति के विषय में ग्रन्थों का निर्माण करने की कृपा करें, जिससे शास्त्रीय वचनों का समन्वय करने में असमर्थ विद्वानों को

सहायता मिलेगी। विद्वानों की उपर्युक्त प्रार्थना के अनुसार श्रीदेशिक स्वामी जी ने न्यासविंशति और न्यासतिलक इन दोनों का निर्माण कर उनको दिया। यह चरित्र श्रीगुरुपरम्पराप्रभाव में वर्णित है।

जैसा कि न्यासविंशति नाम से प्रकट होता है इसमें बीस श्लोकों में न्यासविद्या (शरणागति) का वर्णन किया गया है। इक्कीसवें श्लोक में इस ग्रन्थ का उपसंहार है तथा अन्तिम श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने अपने अनुष्ठान के द्वारा इसका प्रतिपादन किया है।

( १ )

**सिद्धं सत्संप्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं**
**सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्।**
**डम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं**
**स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत्॥**

व्याख्या

यह न्यासविंशति का प्रथम श्लोक है इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी सदाचार्य के लक्षणों का वर्णन करते हुये उपर्युक्त लक्षणों से परिपूर्ण सदाचार्य का आश्रय लेने के लिये सर्वसाधारण को उपदेश देते हैं। कारण यह है कि सुदुर्लभ इस मनुष्य जन्म का लक्ष्य श्रीभगवत्प्राप्ति है। अकिंचन अनन्य गति जीवों को श्री भगवत्प्राप्ति का साधन शरणागति ही है। यदि जीव सदाचार्य के उपदेश से स्वस्वरूप और परस्वरूप इत्यादि के विषय में तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर मुमुक्षु बन जाते हैं तभी शरणागति के अधिकारी हो सकते हैं। सदाचार्य का आश्रय लेने पर ही सदुपदेश प्राप्त हो सकता है। सदाचार्य सम्बन्ध ही आत्मोद्धार का मूल मन्त्र है।

आश्रय लेने में उत्सुक प्रत्येक मनुष्य को प्रथमतः आचार्य के लक्षणों को जान कर परखना चाहिये कि किस महानुभाव में

उपर्युक्त लक्षण अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। इस प्रकार परख कर गुरु करने पर कल्याण ही होगा। पीछे कभी शिष्य को पछताना नहीं पड़ेगा। अतएव इस श्लोक में शिष्य के प्रति कहा जाता है कि **देशिकं भूष्णुरीप्सेत्** अर्थात् कल्याणकामी शिष्य निम्नलिखित गुणों से विभूषित सदाचार्य को प्राप्त करने की इच्छा करें तथा चेष्टा करें।

सब शास्त्रों के सार का संग्रह कर इस श्लोक में आचार्य के १४ गुण बतलाये गये हैं जिनका निरूपण इस प्रकार है कि—

(१) **सत्संप्रदाये सिद्धम्**—श्रीभगवान से लेकर ब्रह्मज्ञ सत्पुरुषों का जो संप्रदाय अर्थात् परम्परा प्रवृत्त है, उसके अनुसार जो महानुभाव शिक्षा-दीक्षा लेकर सिद्धि को प्राप्त हुये हैं, वे ही आचार्य हो सकते हैं।

अथवा—**सिद्धं सत्संप्रदाये**—सद्गुरु के द्वारा सच्छिष्य को जो रहस्य इत्यादि उपदिष्ट होते हैं, वे संप्रदाय कहलाते हैं। जो रहस्यादि के विषय में सद्गुरु से विशद ज्ञान को प्राप्त हुये हैं वे सत्संप्रदाय में सिद्ध हैं। ऐसे महानुभाव ही आचार्य होने योग्य हैं।

अथवा—**सिद्धं सत्संप्रदाये**—जो सत्संप्रदाय में जन्म लिये हुए हैं ऐसे सत्कुलप्रसूत महानुभाव ही आचार्य बनने योग्य हैं।

(२) **स्थिरधियम्**—अवश्य जानने योग्य विशिष्ट अर्थों के विषय में जिनकी बुद्धि स्थिर है, निश्चयात्मिका है, अणुमात्र भी सन्देह अथवा भ्रम नहीं रहता है, वे ही सदाचार्य हो सकते हैं।

(३)**अनघम्**—जो कभी पापाचरण में प्रवृत्त नहीं होते हैं वे अमलात्मा महानुभाव ही आचार्यपद को अलंकृत कर सकते हैं।

(४) **श्रोत्रियम्**—सदाचार्य वे ही हैं जिन्होंने वेद का श्रवण किया हो। वेद का श्रवण कर जिन्होंने तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया है वे ही दूसरों को सदुपदेश दे सकते हैं।

(५) **ब्रह्मनिष्ठम्**—सदाचार्य वे ही हो सकते हैं जिनकी परब्रह्म

में अपार निष्ठा है, जिन्होंने परब्रह्म को ही उपाय और प्राप्य समझ कर वरण किया हो, वेदान्त का अध्ययन करने पर भी जिन लोगों ने परब्रह्म के विषय में निष्ठा नहीं प्राप्त की हो, उन का आश्रय नहीं लेना चाहिये।

(६) **सत्त्वस्थम्**—उनको ही सदाचार्य समझना चाहिये जो सत्वगुण में ही स्थित रहते हों। जो गीता में प्रतिपादित सात्विक—आहार, यज्ञ, तप, दान, त्याग, ज्ञान, कर्म, बुद्धि, धृति और सुख को अपनाते हुये परमसात्विक होकर रहते हैं, रजोगुण और तमोगुण के फन्दे में नहीं फँसते वे ही सद्गुरुपद को सुशोभित कर सकते हैं।

(७) **सत्यवाचम्**—जो सदा सत्य ही बोलते हों, वे ही सदाचार्य हैं। इससे सिद्ध होता है कि सद्गुरु में न भ्रम रहता है न धोखा देने का विचार ही रहता है। इनके विद्यमान होने पर सत्यवाणी नहीं निकल सकती क्योंकि भ्रान्त के मुख से मिथ्यावचन ही निकलेगा, तथा जिसकी नियत अच्छी नहीं है, वे ही मिथ्या भाषण करते देखे जाते हैं।

(८) **समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्**—धर्मज्ञ महर्षियों के संकेत के अनुसार जो सदा सदाचरण रखते हों, अथवा जो महानुभाव अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग नाम से पञ्चकालों में विभक्त वैष्णव आन्हिकाचार से युक्त हों वे ही सदाचार्य हैं।

(९) **डम्भासूयादिमुक्तम्**—जिनमें डम्भ और असूया इत्यादि दुर्गुण न हों, वे ही सदाचार्य माने जा सकते हैं। संसार को दिखाने के लिये जो धर्माचरण होता है, वही डम्भ है। लोग हमें धार्मिक कहें, इस विचार से डाम्भिक मनुष्य सर्वसाधारण के दृष्टिपथ में धर्माचरण करते हैं। गुणों को दोष बतलाना असूया है। वैसे ही अहंकार, ममकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इत्यादि अनेक दोष हैं। सदाचार्य इन दोषों से सर्वथा रहित रहते हैं।

(१०) **जितविषयगणम्**—सदाचार्य शब्द स्पर्श इत्यादि विषयों

को जीतने वाले होते हैं क्योंकि उनकी इन्द्रियाँ सर्वदा उनके वश में रहती हैं।

(११) **दीर्घबन्धुम्**—जो शिष्य के प्रति दीर्घबन्धु बनते हैं, वे सदाचार्यपद के अलंकार स्वरूप हैं, भले ही शिष्य अत्यन्त दूषित हो जायँ तो भी जो महानुभाव शिष्याचार्य सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुये सदा शिष्य के उद्धार में ही दत्तचित्त रहते हैं, कभी शिष्य की उपेक्षा नहीं करते हैं, शिष्य को कभी नहीं भूलते हैं, सदा शिष्य की कल्याण कामना करते रहते हैं, वे ही दीर्घबन्धु कहलाने योग्य हैं। यहाँ श्रीकूरेश स्वामी और चतुर्ग्रामाधिपति का चरित्र ध्यान देने योग्य है।

अथवा **दीर्घबन्धुम्**—संसार में बन्धुओं का सम्बन्ध शरीर तक बना रहता है, आचार्य संबन्ध तो मोक्ष में भी बना रहता है, अतः आचार्य दीर्घबन्धु कहलाते हैं। अतएव श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी ने "**अत्र परत्र चापि नित्यं यदीयचरणौ शरणं मदीयम्**" कहा है।

(१२) **दयालुम्**—जो दयालु हैं वे ही सदाचार्य पद पर आसीन हो सकते हैं। सदाचार्य स्वार्थ पर ध्यान न रखते हुये सदा शिष्यों के दुःख को दूर करने के लिये ही सचेष्ट रहते हैं।

(१३) **स्खालित्ये शासितारम्**—शिष्य प्रमाद से जब भूल कर बैठता है अथवा विषयासक्त होकर निषिद्धाचरण करता है तब जो महानुभाव दया से प्रेरित होकर उस शिष्य को शिक्षा देते हैं तथा दण्ड देते हैं वे ही सदाचार्य पद को निभाने के अधिकारी हैं।

(१४) **स्वपरहितपरम्**—जो महानुभाव अपने हित साधने में तत्पर हैं तथा दूसरों के अर्थात् शिष्यों के अथवा अन्य सभी मनुष्यों के हित साधन में तत्पर हैं जो इन सब के लिये परमहित मोक्ष को साधने में तत्पर हैं उनसे ही सदाचार्य पद सुशोभित हो सकता है।

**देशिकं भूण्णुरीप्सेत्**—उपर्युक्त मंगल गुणों से विभूषित सदाचार्य को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक कल्याणकामी को प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे सदाचार्यों के द्वारा उपदेश प्राप्त होने पर ही आत्म-कल्याण सिद्ध होगा। सदाचार्य से उपदेश न पाकर पाण्डित्य बल से ग्रन्थों को लगाकर अर्थ जानने से आत्म कल्याण नहीं होगा। अतएव उपनिषद् में कहा है कि **आचार्यवान् पुरुषो वेद** अर्थात् वही पुरुष परब्रह्म को जान सकता है जिसने आचार्य सम्बन्ध पाया हो। शास्त्र में कहा गया है कि—

**पापिष्ठः क्षत्रबन्धुश्च पुण्डरीकश्च पुण्यकृत्।**
**आचार्यवत्तया मुक्तौ तस्मादाचार्यवान् भवेत्॥**

अर्थात् महापापी क्षत्रवन्धु और धर्मात्मा पुण्डरीक आचार्य सम्बन्ध के कारण मुक्त हुए हैं। आचार्य सम्बन्ध होने पर क्षत्र-बन्धु का पाप उद्धार में बाधक नहीं हुआ। पुण्डरीक का धर्म की वजह से भी उद्धार न हुआ, किंतु आचार्य सम्बन्ध के कारण ही हुआ। इसलिये सब को आचार्य संबन्ध प्राप्त करना चाहिये।

इस श्लोक से व्यक्त होता है कि उपर्युक्त गुणों से रहित महानुभाव आचार्य मानने योग्य नहीं हैं॥ १॥

( २ )

**अज्ञानध्वान्तरोधादघपरिहरणादात्मसाम्यावहत्वा-**
**ज्जन्मप्रध्वंसिजन्मप्रदगरिमतया दिव्यदृष्टिप्रभावात्।**
**निष्प्रत्यूहानृशंस्यान्नियतरसतया नित्यशेषित्वयोगा-**
**दाचार्यः सद्भिरप्रत्युपकरणधिया देववत् स्यादुपास्यः॥**

पूर्व श्लोक में श्री देशिक स्वामी जी ने बतलाया कि आत्म-कल्याण चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य को आचार्य का आश्रय लेना चाहिये। इस श्लोक में आचार्योपासन का वर्णन करते हैं। श्रीगीता १३ अध्याय ७ वें श्लोक में **आचार्योपासनं शौचम्** कहकर आचार्य

की सेवा और शुश्रूषा ज्ञान की साधन बतलायी गई है तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य शिष्य को उपदेश देते हुये कहते हैं कि **आचार्यं-देवो भव** अर्थात् आचार्य को अपना इष्टदेव मानो। शास्त्र में कहा गया है कि **देवमिवाचार्यमुपासीत** अर्थात् इष्टदेव के समान आचार्य का उपासन करें। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि—

**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
**तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥**

अर्थात्—जिस महापुरुष को अपने इष्टदेव में पराभक्ति है, जिस प्रकार इष्टदेव में भक्ति है, उसी प्रकार जिस महापुरुष की आचार्य में भक्ति है, उस महात्मा को ही आचार्य के द्वारा उपदिष्ट विशेषार्थ प्रकाशित होते हैं। **अकथिताः** ऐसा पदच्छेद करने पर यह अर्थ प्रतिपादित होता है कि उस महात्मा को ऐसे अर्थ भी स्वयं प्रकाशित होते हैं जो अर्थ गुरु के द्वारा उपदिष्ट नहीं भी हुए हो। बोधायनीयपुराणसारसमुच्चय में कहा गया है कि—

**देवताया गुरोश्चापि मन्त्रस्यापि प्रकीर्तनात्।**
**ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्द्विजस्यास्ते न संशयः॥**

अर्थात्—मन्त्रप्रतिपाद्य देवता, मन्त्रदाता गुरु और मन्त्र का कीर्तन करने से द्विजों को ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सब तरह की सिद्धि प्राप्त होती है। ज्ञान इत्यादि संपूर्ण अपेक्षित अर्थों का प्राप्त होना ही यहाँ सिद्धि है। शास्त्र में कहा गया है कि—

**मन्त्रे तद्देवतायां च तथा मन्त्रप्रदे गुरौ।**
**त्रिषु भक्तिः सदा कार्या सा हि प्रथमसाधनम्॥**

अर्थात्—मन्त्र, मन्त्रप्रतिपाद्य देवता एवं मन्त्रदाता गुरु इन तीनों के विषय में सर्वदा भक्ति करनी चाहिये, यह भक्ति ही प्रथम साधन है। अन्यत्र कहा गया है कि—**मन्त्रनाथं गुरुं मन्त्रं समत्वेना-भिपूजयेत्।**

अर्थात्—मन्त्र प्रतिपाद्य देवता गुरु और मन्त्र को सम समझ कर पूजा करनी चाहिये। श्रीपाञ्चरात्रजयाख्यसंहिता में कहा गया है कि—

**यस्माद्देवो जगन्नाथः कृत्वा मर्त्यमयीं तनुम्।**
**मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्याच्छास्त्रपाणिना।**
**तस्माद्भक्तिर्गुरौ कार्या संसारभयभीरुणा॥**

अर्थात्—जगत् के नाथ श्री भगवान् आचार्य के रूप में मनुष्य शरीर को धारण कर संसार समुद्र में डूबे हुये लोगों को कृपया शास्त्र रूपी हाथ दे कर उद्धार करते हैं। इसलिये संसार से भयभीत सज्जन को आचार्य के चरणों में भक्ति करनी चाहिये। इस वचन में आचार्य को श्रीभगवान् का अवतार कहा गया है। उपर्युक्त वचनों से प्रमाणित होता है कि सदाचार्य को भगवान समझकर आराधन करना चाहिये। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि आचार्य और श्रीभगवान में किन २ बातों में समता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीदेशिक स्वामी जी इस श्लोक से आठ प्रकार की समता को सिद्ध करते हुए आचार्य को श्रीभगवान मानकर उपासना करने के लिये कहते हैं।

(१) **अज्ञानध्वान्तरोधात्**—अज्ञानान्धकार को दूर करने के कारण आचार्य, श्रीभगवान के समान हो जाते हैं। श्री भगवान ने गीता के १० वें अध्याय में कहा है कि—

**तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।**
**नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥**

अर्थात्—उन भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये हम उन की चित्तवृत्ति में स्थित होकर ज्ञानरूपी प्रकाशमान दीप से विषयासक्ति रूपी तम को नष्ट करते हैं जो कर्म रूपी अज्ञान से उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि श्री भगवान अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले हैं। यह सर्वविदित है कि सद्गुरु भी सदुपदेश से शिष्यों

के अज्ञान को नष्ट करते हैं। इससे फलित होता है कि श्रीभगवान और सद्गुरु ये दोनों अज्ञानान्धकार के नाशक हैं, इस दृष्टि से इनमें समता है।

(२) **अघपरिहरणात्**—श्रीभगवान पापों को नष्ट करने वाले हैं। शास्त्र कहता है कि—

**हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।**
**अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥**

अर्थात्—दुष्ट चित्त वाले दुर्जनों के द्वारा भी स्मरण किये जाने पर श्रीहरि भगवान् उनके पापों को हरण करते हैं क्योंकि बिना इच्छा के स्पर्श करने पर भी अग्नि जलाती ही है। इससे श्रीभगवान का पापनाशकत्व सिद्ध होता है। आचार्य भी शिष्यों के पाप को नष्ट करते हैं। इतना ही नहीं, सदुपदेश से शिष्यों को आगे होने वाले पापाचरण से विरत कर देते हैं। पापनाशकत्व की दृष्टि से विचारने पर आचार्य और श्रीभगवान में समता झलकती है।

(३) **आत्मसाम्यावहत्वात्**—श्रीभगवान आश्रित जीवों के ऊपर इतनी कृपा करते हैं कि उनको अपने समान पद देते हैं। मोक्ष में पहुंचने पर जीवात्मा श्रीभगवान का सम हो जाता है। श्रुति कहती है कि **निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति** अर्थात् मुक्त जीव निर्दोष बन कर श्रीभगवान की समता को प्राप्त करता है। श्रीभगवान जितना आनन्दानुभव करते हैं, मुक्त जीव भी उतना ही आनन्दानुभव करते हैं। यही सायुज्यमुक्ति है। जीवों को अपने समान पद पर पहुंचाने के लिये ही श्रीभगवान जगत की सृष्टि-स्थिति-संहाररूपी विराट् व्यापार करते रहते हैं। जीवों के उद्धार की चिन्ता श्रीभगवान को अनादिकाल से है। बारंबार मनुष्य जन्म देकर नाना प्रकार के उपाय करके जीवों को अपने समान पद पर पहुंचाना श्रीभगबान का प्रधानकृत्य है। वैसे ही सदाचार्य भी सच्छिष्यों को ज्ञान, वैराग्य, अनुष्ठान, भगवद्भक्ति और भगवत्कृपा

प्राप्ति के विषय में अपने समान बना देते हैं। अपने समान बनाने में श्रीभगवान और आचार्य समानता रखते हैं।

(४) **जन्मप्रध्वंसिजन्मप्रदगरिमतया**—जीवों को जो मोक्ष मिलता है वह भी जीवों का एक प्रकार से जन्म ही है जिससे जीव के स्वरूप का पूर्ण विकास होता है। सांसारिक जन्म और मोक्षरूपी जन्म में यही अन्तर है कि मोक्षरूपी जन्म सांसारिक जन्मों को नष्ट कर देता है क्योंकि मोक्ष पद में पहुंचने पर जीव को पुनः संसार में जन्म लेना नहीं पड़ता है। इस प्रकार अन्यान्य जन्मों को नष्ट करने वाले मोक्षरूपी विशिष्ट जन्म का प्रदान करना श्रीभगवान का असाधारण कार्य है। यह विशेषता श्रीभगवान में ही है। वैसी विशेषता आचार्य में भी है क्योंकि आचार्य ही सांसारिक जन्मों को नष्ट करने वाले विद्याजन्म का प्रदान करते हैं। इस दूसरे जन्म के कारण ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज कहलाते हैं। इससे भी श्रीभगवान और आचार्य में समता सिद्ध होती है।

(५) **दिव्यदृष्टिप्रभावात्**—श्रीभगवान की दिव्यदृष्टि का प्रभाव अपार है। महाभारत मोक्षधर्म में श्रीभगवान और देवतान्तरों की दृष्टि का प्रभाव इस प्रकार बतलाया गया है कि—

**जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः।**
**सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः।**
**पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः।**
**रजसा तमसा चास्य मानसं समभिप्लुतम्॥**

अर्थात्—किसी पुरुष के जन्म लेते समय यदि उस पर मधुसूदन भगवान की दृष्टि पड़ जाय तो मानना चाहिये कि वह पुरुष सात्त्विक हो जायगा, मोक्षार्थ चिन्ता करने वाला बन जायगा। जन्म लेते समय यदि किसी पुरुष पर ब्रह्माजी अथवा शिवजी की दृष्टि पड़ जाय तो उस पुरुष का मन रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीभगवान की दिव्य दृष्टि का

ही वह प्रभाव है जिससे मनुष्य सात्त्विक एवं मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। आचार्य की दिव्यदृष्टि का भी वैसा ही प्रभाव है। शास्त्रों में कहा गया है कि—

**बालमूकजडान्धाश्च पङ्गवो बधिरास्तथा ।**
**सदाचार्येण सन्दृष्टाः प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥**

अर्थात्—बालक, गूंगे, जड, अन्ध, पङ्गु एवं बधिर मनुष्य भी सदाचार्य की कृपादृष्टि का पात्र बनने पर परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इससे फलित होता है कि दिव्यदृष्टि के प्रभाव पर ध्यान देने पर श्री भगवान और आचार्य समान योग्यता रखते हैं।

अथवा—**दिव्यदृष्टिप्रभावात्** श्रीभगवान भक्त को दिव्यदृष्टि देने की सामर्थ्य रखते हैं। अतएव श्रीगीता में कहा गया है कि श्रीभगवान ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी। वैसे आचार्य भी शिष्यों को दिव्यदृष्टि का प्रदान करते हैं। अतएव शिष्य आचार्य के द्वारा अनुपदिष्ट अर्थों को भी समझने में क्षमता रखते हैं। श्रीगीता में कहा गया है कि आचार्यप्रवर श्री वेदव्यास जी ने संजय जी को दिव्यदृष्टि और दिव्य श्रोत्र का प्रदान किया जिससे संजय विश्व रूप को देखने और गीतोपदेश को सुनने में समर्थ हुये। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि दिव्यदृष्टि देने में श्रीभगवान और आचार्य समान योग्यता रखते हैं।

(६) **निष्प्रत्यूहानृशंस्यात्**—श्रीभगवान की कृपा किसी भी विघ्न से प्रतिहत नहीं होती है, अबाधित गति से सदा सभी जीवों पर प्रवाहित होती रहती है। वैसे ही आचार्य की कृपा भी किसी भी विघ्न से प्रतिहत न होकर सदा शिष्यों पर प्रवाहित होती रहती है। इससे सिद्ध होता है कि कृपा करने के विषय में आचार्य और भगवान दोनों समान हैं।

(७) **नियतरसतया**—श्रीभगवान आनन्दमय होने से रस रूप

हैं, श्रीभगवान सर्वदेश सर्वकाल और सर्वअवस्थाओं में रस रूप हैं, उनकी रसरूपता में कभी विपर्यास नहीं होता है, अतएव श्रीभगवान भक्तों को अत्यन्त भोग्य प्रतीत होते हैं। वैसे ही आचार्य भी अत्यन्त भोग्य हैं, अतएव सच्छिष्य आचार्य की सेवा में अपार आनन्द का अनुभव करते हैं। आन्ध्रपूर्ण स्वामी जो इस बात में प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इससे सिद्ध होता है कि भोग्यता के विषय में श्रीभगवान और आचार्य समान कक्षा में विराजमान रहते हैं।

(८) **नित्यशेषित्वयोगात्**—जीवों के प्रति श्रीभगवान शेषी हैं अर्थात् स्वामी हैं, श्रीभगवान का स्वामित्व सर्वदा बना रहता है, वह कभी मिटने वाला नहीं है, वैसे ही आचार्य भी शिष्यों के प्रति शेषी हैं, स्वामी हैं, उनका स्वामित्व भी कभी नहीं मिटता। वैकुण्ठ में पहुंचने पर भी आचार्य आचार्यरूप में ही रहते हैं, शिष्य शिष्य-रूप में ही रहते हैं। श्रीवैकुण्ठ में श्रीभगवान के योगपीठ के पश्चिमोत्तर दिग्भाग में आचार्यों के विराजने का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि स्वामित्व की दृष्टि से श्रीभगवान और आचार्य समान हैं।

**आचार्यः सद्भिर्देववदुपास्यः स्यात्**—सत्पुरुषों को चाहिये कि वे जिस प्रकार अपने इष्टदेव श्रीभगवान की उपासना करते हैं उसी प्रकार आचार्य की उपासना करें क्योंकि उपर्युक्त रीति से श्रीभगवान और आचार्य में आठ प्रकार की समता है।

हाँ, आचार्य की उपासना अर्थात् सेवा शुश्रूषा करते समय यह अर्थ ध्यान देने योग्य है कि सेवा करते समय प्रत्युपकार की भावना न रक्खें, यही भावना रक्खें कि मैं आचार्य का प्रत्युपकार करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, आचार्य से मैंने जो महान् उपकार पाया है, उसके समक्ष मेरी यह सेवा अत्यन्त तुच्छ है, प्रत्युपकार बन ही नहीं सकता। मैं तो आचार्य का नित्य ऋणी हूँ, मैं उस ऋण को कभी चुका नहीं सकता। इस भाव को मन में लेकर सच्छिष्य

सदाचार्य की उसी प्रकार सेवा करें जिस प्रकार श्रीभगवान की सेवा करते हैं। अतएव श्लोक में **अप्रत्युपकरणधिया** ऐसा कहा गया है।

जिस प्रकार घर में ही कोई सज्जन जन्मदरिद्र को निधि दिखला दें, उसी प्रकार ही सदाचार्य अज्ञ जीवों को आत्मकल्याण-कारी तत्त्व हित और पुरुषार्थ का विशद ज्ञान कराते हैं। आचार्य का यह महोपकार बेजोड़ है। शास्त्र में शिष्यों के लिये यह कहा गया है कि शिष्य आचार्य के विषय में सर्वदा कृतज्ञ बने रहें, कभी आचार्य का द्रोह न करें इत्यादि। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ऐसा करने से शिष्य आचार्य का प्रत्युपकार करने वाला नहीं माना जा सकता। कृतज्ञता का आदेश देने वाले शास्त्र का भाव यही है कि आचार्य के प्रति कृतज्ञता न रखने वाला तथा द्रोह बुद्धि रखने वाला शिष्य श्रीभगवान और भागवतों की घृणा का पात्र बन जाता है, हितोपदेश देने वाले प्रह्लाद और विभीषण के विषय में प्रतिकूल बनने वाले रावण और हिरण्यकशिपु के समान हो जाता है, अतएव दण्डनीय हो जाता है, क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि—

**विद्याचोरो गुरुद्रोही वेदेश्वरविदूषकः।**
**त एते बहुपाप्मानः सद्यो दण्डचा इति श्रुतिः॥**

अर्थात्—विद्या की चोरी करने वाला, गुरु से द्रोह करने वाला एवं वेद और ईश्वर का खण्डन करने वाला ये तीनों भयंकर पापा-चारी हैं, इनको तत्क्षण दण्ड देना चाहिये ऐसा श्रुति कहती है। इस प्रकार शिष्य को भयंकर दोष भागी बनना न पड़े, तदर्थ शास्त्र शिष्य को कृतज्ञ बनने के लिये उपदेश देते हैं, प्रत्युपकार कराने के उद्देश नहीं, क्योंकि शिष्य आचार्य का प्रत्युपकार कर ही नहीं सकता है।

शास्त्र में कहा गया है कि—

**शरीरमर्थं प्राणं च सद्गुरुभ्यो निवेदयेत् ।**

अर्थात्—शरीर, सम्पत्ति और प्राण को सद्गुरुओं की सेवा में लगा दें ।

**सर्वस्वं वा तदर्धं वा तदर्धार्धमेव वा ।**
**गुरवे दक्षिणां दद्याद्यथाशक्त्यपि वा पुनः ॥**

अर्थात्—शिष्य अपने सर्वस्व को अथवा उसके आधा भाग को अथवा उसके आधा भाग को दक्षिणा के रूप में गुरु को प्रदान करें, अथवा अपनी शक्ति के अनुसार प्रदान करें। ये शास्त्र वचन प्रत्युपकार करने के लिये इन अर्थों का विधान नहीं करते हैं, किन्तु शास्त्र वचन का भाव यही है कि जिस प्रकार शिष्यों को प्रणाम और अभिवादन इत्यादि अवश्य कर्तव्य हैं, उसी प्रकार सर्वस्वदान इत्यादि भी एक आवश्यक कर्तव्य धर्म हैं, ये प्रत्युपकार नहीं हैं। क्योंकि **कृपया निःस्पृहो वदेत्** इस शास्त्र के अनुसार निःस्पृह होकर केवल कृपा से सदुपदेश देने वाले अनन्यप्रयोजननिष्ठ आचार्य के प्रति शास्त्र प्रत्युपकार का विधान ही नहीं कर सकते ।

शास्त्र में यह जो कहा गया है कि शिष्य आचार्य को श्रीभगवान मानकर तन, मन, धन से सेवा शुश्रूषा करें, इस शास्त्र का भो प्रत्युपकार का विधान करने में तात्पर्य नहीं हैं, किन्तु तात्पर्य इसी में है कि जिस प्रकार श्रीभगवान की सेबा करने में अपार आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार आचार्य की सेवा में भी अपार आनन्द प्राप्त होता है, उससे शिष्य वंचित न रहे। इसी भाव से ही शास्त्र आचार्य सेवा का विधान करते हैं।

उपर्युक्त शास्त्र वचनों का उपर्युक्त भाव ही मानना चाहिये क्योंकि शास्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि—

**ब्रह्मविद्याप्रदानस्य देवैरपि न शक्यते ।**
**प्रतिप्रदानमथवा दद्याच्छक्तित आदरात् ॥**

अर्थात्—आचार्य ब्रह्मविद्या का प्रदान करते हैं, उसके प्रति समान कोटि का पदार्थ होता ही नहीं है, ऐसी स्थिति में देवता लोग भी ब्रह्मविद्या प्रदान के समान प्रतिप्रदान नहीं कर सकते मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? ऐसा होने पर भी अपने हृदय में प्रतिक्षण बढ़ती हुई श्रद्धा को चरितार्थ करने के लिये शक्त्यनुसार तन मन धन को प्रदान करें। इस वचन में स्पष्ट कहा गया है कि शिष्य आचार्य का प्रत्युपकार करने में सर्वथा असमर्थ है। शिष्य को चाहिये कि प्रत्युपकार की भावना न रखकर श्रद्धा से श्रीभगवान के समान आचार्य की उपासना करे। यही अर्थ इस श्लोक में वर्णित है ॥ २ ॥

( ३ )

**सद्बुद्धिः साधुसेवी समुचितचरितस्तत्त्वबोधाभिलाषी**
**शुश्रूषुस्त्यक्तमानः प्रणिपतनपरः प्रश्नकालप्रतीक्षः ।**
**शान्तो दान्तोऽनसूयुश्शरणमुपगतश्शास्त्रविश्वासशाली**
**शिष्यः प्राप्तः परीक्षां कृतविदभिमतं तत्त्वतः शिक्षणीयः ॥**

पूर्वश्लोक में आचार्य सेवा का वर्णन हुआ। इस श्लोक में शिष्य के १४ लक्षणों को बतलाते हुये श्रीदेशिक स्वामी जी सद्गुण युक्त शिष्य के विषय में आचार्य के कर्तव्य का वर्णन करते हैं।

(१) **सद्बुद्धिः**—वही शिष्य माना जा सकता है जो समीचीन बुद्धि वाला हो। आचार्य के उपदेश को समझने के लिये जिसकी बुद्धि में सामर्थ्य नहीं वह शिष्य होने योग्य नहीं है।

(२) **साधुसेवी**—जो भगवद्भक्त साधु महात्माओं की सेवा प्रेम से करता हो, वही शिष्य बनने योग्य है। भगवद्भक्तों के विषय में दुर्भाव रखने वाले के मन में शिष्य बनने की इच्छा ही नहीं हो सकती।

(३) **समुचितचरितः**—जो सच्चरित्र हो, वर्णाश्रम के अनुसार

आचरण रखता हो, वह शिष्य भाव प्राप्त करने का अधिकारी है। जो सच्चरित्र हीन है तथा वर्णाश्रमर्यादा को तोड़कर स्वेच्छाचरण करता है, वह सद्गुरु के उपदेश से लाभ नहीं उठा सकता क्योंकि सद्गुरु के उपदेश के अनुसार उसे संयत जीवन बिताना होगा, उसके लिये वह स्वेच्छाचारी कभी तैयार नहीं होगा।

(४) **तत्त्वबोधाभिलाषी**—जो तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने की अभिलाषा रखता हो वही शिष्य बन सकता है। जिसके मन में जिज्ञासा ही न हो वह सद्गुरु के उपदेश से लाभ नहीं उठा सकता।

(५) **शुश्रूषुः**—जो आत्मकल्याणकारी अर्थों को सुनने के लिये लालायित है तथा उस लालसा से प्रेरित होकर गुरु की सर्वविध शुश्रूषा करता हो, वही सच्छिष्य हो सकता है। शुश्रूषा करने वाला शिष्य ही गुरु से उसी प्रकार ज्ञान को प्राप्त करता है जिस प्रकार अधिकाधिक खोदने वाला पानी को प्राप्त करता है। यह मनु महाराज का कथन है।

(६) **त्यक्तमानः**—जो अहंकार से रहित हो, जिसने विद्याभिमान, धनाभिमान और कुलाभिमान इत्यादि सर्वविध अभिमानों को त्याग दिया हो वही शिष्य बनकर लाभान्वित होगा क्योंकि अभिमानी पुरुष गुरु की सर्वविध सेवा करने में सन्नद्ध नहीं होगा, न गुरु की कृपा ही प्राप्त कर सकेगा, ऐसी स्थिति में उसका कल्याण होना कठिन है।

(७) **प्रणिपतनपरः**—जो सदाचार्य की सन्निधि में बारम्बार साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करने के लिये तत्पर रहता हो वही शिष्य होने योग्य है, वही गुरु कृपा का केन्द्र बनकर कल्याण भागी हो सकता है। सद्गुरु को देखते ही साष्टाङ्ग प्रणाम करने का शास्त्र में विधान है।

(८) **प्रश्नकालप्रतीक्षः**—जो प्रश्न करने के लिये योग्य समय की प्रतीक्षा करके उस समय में प्रश्न करता हो, वह शिष्य गुरु से

पूर्ण उपदेश पाकर धन्य हो सकता है। गुरु के कार्यान्तर में व्यग्र रहते समय यदि शिष्य गुरु से प्रश्न करेगा तो गुरु अप्रसन्न हो जायेंगे और उस अर्थ के विषय में पूर्ण प्रकाश नहीं डालेंगे अतः शिष्य को लाभ होना कठिन है।

(९) **शान्तः**—जो मन को अपने वश में रखता हो वही शिष्य होने योग्य है, वही सावधान होकर गुरु का उपदेश सुनकर कठिन अर्थों के विषय में भी विशद ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

(१०) **दान्तः**—जो बाह्य इन्द्रियों को भी अपने वश में रखता हो, वही सर्वविध क्लेशों को सह कर विद्यार्जन कर सकता है।

(११) **अनसूयुः**—जो श्रेष्ठ पुरुष तथा विद्वान् गुरुभ्राताओं के विषय में असूया नहीं रखता हो, उनके गुणों में दोष दृष्टि न रखता हो वही शिष्य होने योग्य है, वही सबकी कृपा का पात्र बनकर निर्मल ज्ञान को प्राप्त कर सकता है क्योंकि उसके प्रति सभी लोग गुह्य से गुह्य अर्थों को भी बतलाने में तत्परता से प्रवृत्त हो जायेंगे।

(१२) **शरणमुपगतः**—जो गुरु के स्थान में आकर विद्या प्राप्त करने में रुचि रखता हो, तथा गुरु की शरण में रहता हो वही शिष्य बनने योग्य है क्योंकि शरण में आये हुये शिष्य के उद्धार का जिम्मा गुरु को लेना पड़ता है, सद्गुरु अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए उस शिष्य का सुष्ठु प्रकार से उपदेश देकर उद्धार कर देते हैं।

(१३) **शास्त्रविश्वासशाली**—जो शास्त्र में विश्वास रखता हो तथा आस्तिक हो, वही शिष्य माना जा सकता है क्योंकि ईश्वर, उसका स्वरूप और स्वभाव; मोक्ष और उसके साधन; परमपद और धर्माधर्म शास्त्र के द्वारा ही जाने जा सकते हैं, ये अर्थ प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध होने वाले नहीं हैं, गुरु का उपदेश भी शास्त्र के आधार पर ही होता है, शास्त्र पर विश्वास रखने वाले सज्जन ही गुरु के उपदेश से लाभ उठा सकते हैं।

(१४) **कृतवित्**—आचार्य के द्वारा किये गये उपकारों को याद कर जिसका मन कृतज्ञता से भर जाता है, जो सर्वदा यह समझता रहता है कि महा संसारी हमको आचार्य ने ही नित्यसूरियों की परिषद् में बैठने लायक बनाया तथा श्रीभगवत्कृपा का पात्र बनाया, ऐसा कृतज्ञ सत्पुरुष ही शिष्य होने योग्य है, वही सदाचार्य और श्रीभगवान के अनुग्रह से कल्याण का भागी हो सकता है।

**परीक्षां प्राप्तः**—उपर्युक्त सद्गुणों से युक्त शिष्य की परीक्षा गुरु करें। शास्त्र में सद्गुरु के विषय में कहा गया है कि—

**संवत्सरं तदर्धं वा तदर्धार्धमेव वा ।**
**परीक्ष्य विविधोपायैः कृपया निस्स्पृहो वदेत् ॥**

अर्थात्—सद्गुरु को चाहिये कि वे साल भर अथवा ६ मास अथवा ३ मास विविध उपायों से शिष्य की परीक्षा कर निस्स्पृह होकर कृपया उपदेश दें। इस प्रकार परीक्षा करके सुयोग्य सिद्ध होने वाले शिष्यों को ही उपदेश देने पर गुरु को कभी पश्चात्ताप करना नहीं पड़ेगा, न गुरु की निष्ठा में ही धक्का लगेगा। शास्त्र में यह कथा वर्णित है कि ब्रह्माजी ने तीनों लोकों के अधिपति इन्द्रदेव को शिष्य पाकर अत्यन्त प्रसन्न होकर ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। उसके फलस्वरूप ब्रह्माजी ब्रह्मविद्या को भूल गये, अन्त में श्रीभगवान की आज्ञा से उन्हें श्रीनारद भगवान से ब्रह्म-विद्या को प्राप्त करना पड़ा। यदि गुरु परीक्षा किये बिना ही सबको उपदेश देते रहेंगे तो सम्भव है कि कभी अनधिकारी को भी उपदेश दें, उससे उस शिष्य का पाप गुरु को लग सकता है क्योंकि शास्त्र में **शिष्यपापं गुरोरपि** कहकर कहा गया है कि शिष्य का पाप गुरु को लगता है। इसलिये उचित यही है कि सद्गुरु परीक्षा करके सुयोग्य सिद्ध होने वाले शिष्यों को ही उपदेश दें।

**शिष्योऽभिमतं तत्त्वतः शिक्षणीयः**—परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले गुणवान शिष्यों के विषय में गुरु का यह आवश्यक कर्तव्य है

कि वे मोक्ष के लिये उपयुक्त सभी अर्थों की सच्छिक्षा दें, यह सच्छिष्य अपने अभिमत सिद्धान्तार्थों के तात्त्विक उपदेश के लिये सुपात्र है। ऐसे सच्छिष्य को उपदेश न देने पर गुरु श्रीभगवान की अप्रसन्नता का कारण बन जायेंगे। श्रीभगवान को श्रीसिद्धान्त का प्रचार अत्यन्त अभिमत है ॥ ३ ॥

( ४ )

**स्वाधीनाशेषसत्तास्थितियतनफलं विद्धि लक्ष्मीशमेकं**
**प्राप्यं नान्यं प्रतीया न च शरणतया कंचिदन्यं वृणीयाः ।**
**एतस्मादेव पुंसां भयमितरदपि प्रेक्ष्य मोज्झीस्तदाज्ञा-**
**मित्येकान्तोपदेशः प्रथममिह गुरोरेकचित्तेन धार्यः ॥**

पूर्वश्लोकों में श्रीदेशिक स्वामी जी ने यह उपदेश दिया कि शरण में आकर सेवा करने वाले गुणवान शिष्य को सदाचार्य सच्छिक्षा प्रदान करें। यह आचार्य का प्रधान कर्तव्य है। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि सर्वप्रथम आचार्यों के द्वारा एकान्त में श्रीमदष्टाक्षर इत्यादि महामन्त्रों से प्रतिपादित आत्मकल्याणकारी प्रधान अर्थों का जो उपदेश दिया जाता है शिष्य एकाग्र चित्त से उस उपदेश को धारण करे, कभी भूले नहीं, क्योंकि इस उपदेश के द्वारा ही उसका कल्याण होने वाला है। आचार्य के उपदेश का सार इस श्लोक में संगृहीत है।

**स्वाधीनाशेषसत्तास्थितियतनफलं लक्ष्मीशमेकं विद्धि**—आत्म-कल्याण का प्रधान कारण तत्त्वज्ञान है। तत्त्व तीन हैं (१) चित् (२) अचित् (३) और ईश्वर। जीवात्मा को चित् कहते हैं, जीवात्मा तीन प्रकार का है (१) बद्ध (२) मुक्त (३) और नित्य। संसार बन्धन में पड़े हुए ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जीवगण बद्ध जीव कहलाते हैं। संसार से छूटे हुए दिव्यसूरि और पूर्वाचार्य इत्यादि मुक्त जीव कहलाते हैं। अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन इत्यादि—

जो कभी संसार में नहीं रहे हैं—नित्य कहलाते हैं। जडतत्त्व को अचित् कहते हैं। जडतत्त्व तीन प्रकार का है (१) प्रकृति (२) काल (३) और शुद्ध सत्त्व। सत्त्व, रज और तम गुण वाला तथा सृष्टि काल में महान्, अहंकार, ११ इन्द्रिय, पांच तन्मात्र, पांच भूत तथा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के रूप में परिणत होने वाला और बद्ध जीवों को संसार में बाँध रखने वाला जडतत्त्व प्रकृति कहलाता है। क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात्रि, मास और संवत्सर इत्यादि रूप में विभक्त जडतत्त्व काल कहलाता है। केवल सत्त्वगुण से युक्त अचेतन तत्त्व शुद्ध सत्त्व कहलाता है। यही शुद्ध सत्त्व द्रव्य ईश्वर और नित्यमुक्त जीवों के-विग्रह, मण्डप, गोपुर, प्रासाद, उपवन क्रीड़ापर्वत, नदी और जलाशय आदि के रूप में परिणत होकर-उपयोग में आता है। लीलाविभूति और भोगविभूति इन तत्त्वों से भरी हैं तथा इन तत्त्वों का विकास रूप हैं। इन तीनों तत्त्वों में एकमात्र ईश्वर तत्त्व ही परम स्वतन्त्र है। तीन प्रकार का चित्तत्त्व और तीन प्रकार का अचित्तत्त्व सब प्रकार से ईश्वर तत्त्व के परतन्त्र है। ईश्वर को छोड़कर और जितने तत्त्व अथवा पदार्थ हैं उन सबका स्वरूप, सत्ता, स्थिति, व्यापार और फल ईश्वर तत्त्व के आधीन हैं, एक भी पदार्थ इस नियम से अलग नहीं होता। इन सब पदार्थों का स्वरूप ईश्वर के आधीन है, परमात्मा ईश्वर उसी प्रकार सभी पदार्थों को धारण करते हैं जिस प्रकार जीवात्मा शरीर को धारण करता है, ईश्वर के द्वारा धृत होने के कारण ही इन सब पदार्थों का स्वरूप बना हुआ है, ईश्वर के द्वारा छोड़े जाने पर इन पदार्थों के स्वरूप को उसी प्रकार मिटना पड़ेगा, जिस प्रकार आत्मा के द्वारा परित्यक्त देह मिट जाता है अथवा द्रव्य के द्वारा त्यक्त गुण और क्रिया इत्यादि तत्क्षण मिट जाते हैं। जिस प्रकार गुण और क्रिया आदि की सत्ता आधार बनने वाले द्रव्य के अधीन है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत की सत्ता जगदाधार ईश्वर के अधीन है। इस जगत का स्वरूप न केवल ईश्वर स्वरूप

के अधीन होकर रहता है किन्तु ईश्वरसंकल्प के भी अधीन होकर रहता है क्योंकि अनित्य पदार्थ ईश्वरसंकल्प के अनुसार ही उत्पन्न होते रहते हैं तथा नित्य पदार्थ ईश्वरसंकल्प के अनुसार ही नित्य बने रहते हैं, उनके विषय में ईश्वर का ऐसा ही संकल्प है कि ये पदार्थ नित्य बने रहें, अतएव वे पदार्थ नित्य बने रहते हैं। इस प्रकार सब पदार्थों का स्वरूप ईश्वरस्वरूप और ईश्वरसंकल्प के अधीन होकर रहता है। ईश्वर इन सब पदार्थों के धारक हैं, ये पदार्थ ईश्वर में आधारित हैं, इसलिये इनका स्वरूप ईश्वर के अधीन हो जाता है।

किंच, ये पदार्थ जो उत्तरकाल में बने रहते हैं उसे स्थिति कहते हैं। यह स्थिति भी ईश्वर के अधीन है, क्योंकि ईश्वर जिस पदार्थ के विषय में जितने समय तक बने रहने के लिये संकल्प करते हैं, वह पदार्थ उतने ही समय तक बना रह सकता है, उसके अनन्तर क्षण में उसे मिटना होगा। इस प्रकार सब पदार्थों की स्थिति ईश्वर के अधीन हो जाती है।

किंच, इन पदार्थों में जो नाना प्रकार के व्यापार होते रहते हैं जैसे चेतनों में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के रूप में व्यापार होते रहते हैं, तथा जड़ पदार्थों में प्रवृत्ति और निवृत्ति के रूप में अनेक व्यापार होते रहते हैं, ये सभी व्यापार ईश्वरसंकल्प के अधीन हैं। ईश्वर जिस पदार्थ में जैसे व्यापार होने के लिये संकल्प करते हैं, उस पदार्थ में वैसे ही व्यापार होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जगत के सम्पूर्ण पदार्थों का व्यापार ईश्वर के अधीन है।

किंच, इन पदार्थों को जो २ फल प्राप्त होते हैं, वे सब ईश्वर-संकल्प के अनुसार ही प्राप्त होते हैं, ईश्वर अपनी इच्छा के अनुसार ही फल देते हैं, ईश्वर स्वयं रसानुभव करने के लिये विविध फलों को प्रदान करते हैं। जिस प्रकार राजा स्वयं लीलारस का अनुभव करने के लिये जड़ प्रतिमा को भूषणों से अलंकृत करके उसे

देखकर प्रफुल्लित होता है तथा जिस प्रकार पिंजड़े में बंधे हुए तोते को विविध-फल-रस का आस्वादन कराकर उसकी राम ध्वनि और स्वेच्छा विहार को देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी स्वयं रसानुभव करने के लिये जड़ प्रकृति को शब्द और स्पर्श इत्यादि गुणों से अलंकृत करते हैं अलंकृत प्रकृति को देखकर प्रफुल्लित होते हैं तथा संसार में बँधे हुए बद्ध जीवों को विविध कर्म फलों को भुगाते हुए तथा जीवों की साधना से प्रसन्न होकर जीवों को बन्धन से छुड़ाते हैं, छूटे हुए जीवों के स्वेच्छा विहार को देखकर प्रसन्न होते हैं, इस प्रकार ईश्वर स्वयं रसानुभव करने के लिये ही विविध फलों को प्रदान करते हैं। अतएव ईश्वर शेषी कहलाते हैं तथा जगत का धारक होने से आधार हैं, अपने संकल्प के अनुसार जगत को चलाने वाले होने के कारण नियामक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण चेतनाचेतनों के स्वरूप, स्थिति, प्रवृत्ति और फल को अपने अधीन रखने वाले ईश्वर अनेक नहीं हैं किन्तु एक ही हैं। वे भी दूसरे कोई नहीं हैं किन्तु श्रीमन्नारायण भगवान ही हैं, श्रियःपति नारायण भगवान को उपर्युक्त रीति से सर्वेश्वर समझो। श्रीमहालक्ष्मी जी को सर्वेश्वरी समझो। श्रीभगवान जगत के पिता हैं, श्रीमहालक्ष्मी जी जगत की माता हैं, जीव उनके पुत्र हैं। माता पुत्र कोटि में गिनी नहीं जा सकती हैं अपितु उसे पिता के समान मानना चाहिये। वैसे ही श्रीमहालक्ष्मी जी को भी जीव कोटि में गिनना नहीं चाहिये, अपितु ईश्वर कोटि में गिनना चाहिये। शास्त्र श्रीभगवान के समान ही श्रीमहालक्ष्मी जी की महिमा का वर्णन करते हैं। इसलिये श्रीमहालक्ष्मी समेत श्रीमन्नारायण भगवान को ही उपर्युक्त सर्वमहिमसम्पन्न सर्वेश्वर समझो। इस प्रकार आचार्य सर्वप्रथम तत्त्व का उपदेश देते हैं। आगे उपदेश करते हुए कहते हैं कि—

**अन्यं प्राप्यं न प्रतीयाः**—हे सौम्य ! श्रीभगवान को छोड़कर दूसरे किसी को प्राप्य मत समझो, श्रीभगवान को ही परम प्राप्य

समझो । अमूल्य मनुष्यजीवन का अमूल्य श्रीभगवान ही लक्ष्य होना चाहिये, ऐश्वर्य और कैवल्य इत्यादि क्षुद्र पुरुषार्थों में आसक्त होना अपने को धोखा देना ही है । श्रीभगवान को प्राप्त करने पर ही तुम सभी दुःख जंजालों से छूटोगे तथा अपार आनन्द का अनुभव करोगे । अतः श्रीभगवान को ही परम प्राप्य समझो, दूसरे पुरुषार्थों को प्राप्य मत समझो ।

किंच, **कश्चिदन्यं शरणतया न च वृणीयाः**—श्रीभगवान को प्राप्त करने के लिये एकमात्र श्रीभगवान की ही शरण में जाओ, दूसरे किसी की शरण में मत जाओ । एकमात्र श्रीभगवान ही मोक्ष प्रदान में अधिकृत हैं । एक बद्ध पुरुष दूसरे बद्ध को बंधन से छुड़ा नहीं सकता, वैसे ही अन्यान्य देवता भी जीवों को संसार से छुड़ा नहीं सकते हैं क्योंकि वे स्वयं बन्धन में पड़े हैं । इसलिये देवतान्तरों को छोड़कर सिद्धोपाय श्रीभगवान की ही शरण में जाओ । उपाय बनने के लिये उनसे ही प्रार्थना करो ।

किंच, **एतस्मादेव पुंसां भयमितरदपि प्रेक्ष्य तदाज्ञां मोज्झीः**—संसार अत्यन्त भयावह है, संसार से बढ़कर भयप्रद वस्तु दूसरी कोई है ही नहीं । मोक्ष से बढ़कर अभयपद भी दूसरा कोई नहीं है । श्रीभगवान अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले दुष्ट जीवों को संसार में रख नाना प्रकार के भय देते रहते हैं, वे ही भगवान अपनी आज्ञा के अनुसार चलने वालों को क्रम से मोक्षपद में पहुंचाकर सर्वदा के लिये अभय दे देते हैं, अतएव श्रीविष्णुसहस्र-नाम में श्रीभगवान का **भयकृद्भयनाशनः** ऐसे दो नाम कहे गये हैं । इसलिये यह पक्का समझो कि भय देने वाले श्रीभगवान ही हैं, अभय देने वाले भी श्रीभगवान ही हैं । श्रीभगवान ही स्वयं अथवा अन्य जीवों के द्वारा भय और अभय देते रहते हैं, आज्ञा भंग करने वाले आसुर प्रकृति वालों को भय देते हैं, आज्ञानुसार चलने वाले दैव प्रकृति वालों को अभय देते हैं । ऐसा समझकर श्रीभगवान

की आज्ञा को मानकर चलो, उनकी आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करना। इस बात में सर्वदा सावधान रहो। दूसरों की आज्ञा की परवाह न कर एकमात्र श्रीभगवान की आज्ञा के अनुसार चलने के लिये चेष्टा करो। श्रीभगवान की यह स्पष्ट घोषणा है कि—

**श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा यस्तामुल्लङ्घ्य वर्तते ।**
**आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥**

अर्थात्—श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा है, जो उस आज्ञा का उल्लंघन करता रहता है, मेरी आज्ञा का भंग करने वाला वह मेरा द्रोही है, मेरा भक्त होने पर भी वह वैष्णव नहीं है अर्थात् मेरा नहीं हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर सर्वदा श्रीभगवान के आज्ञाकारी सेवक बनो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

**इति गुरोः प्रथममेकान्तोपदेश एकचित्तेन धार्यः**—इस प्रकार गुरु सर्वप्रथम शिष्य को एकान्त में जो परमार्थ रहस्यार्थ का जो उपदेश देते हैं, शिष्य को चाहिये कि एकाग्र चित्त से सर्वदा उस उपदेश को धारण करे, कभी भूले नहीं। इस उपदेश में संक्षेप रूप से तत्त्व हित और पुरुषार्थ सभी समाविष्ट हैं ॥ ४ ॥

## ( ५ )

**मोक्षोपायार्हतैवं भवति भवभृतां कस्यचित् क्वापि काले**
**तद्वद्भक्तिप्रपत्त्योरधिकृतिनियमस्तादृशा स्यान्नियत्या ।**
**शक्ताशक्तादितत्तत्पुरुषविषयतस्स्थाप्यते तद्व्यवस्था**
**यच्चाहुस्तद्विकल्पः सम इति कतिचित्तत्फलस्याविशेषात् ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने आचार्य के द्वारा शिष्य को एकान्त में दिये जाने वाले उपदेश का वर्णन किया। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि उपर्युक्त रीति से आचार्य के उपदेश को सुनकर संसारियों में कोई २ सज्जन मोक्ष के साधन का अनुष्ठान करने के लिये योग्य बन जाते हैं। उनमें

भी कई भक्तियोग का अधिकार रखते हैं, कई प्रपत्तियोग का अधिकार रखते हैं।

**भवभृतां कस्यचित् क्वापि काले एवं मोक्षोपायार्हता भवति—** इस संसार में अगणित संसारी जीव रहते हैं। उनमें मनुष्यों में किसी २ काल में कोई २ मनुष्य ही आचार्य सम्बन्ध पाकर मोक्षोपाय के योग्य अधिकारी बनते हैं सब नहीं। कारण यह है कि सभी बद्ध जीव नाना प्रकार के कर्मों से जकड़े रहते हैं। किसी २ जीव के कोई २ कर्म किसी २ काल में परिपक्व होकर फल देने लगते हैं। उस समय श्रीभगवान उन कर्मों को निमित्त बनाकर जीवों को विविध कर्म फलों को प्रदान करते हैं। जीवों के कर्म एक से नहीं हैं, अनेक जीवों में एक प्रकार के कर्म होने पर भी वे एक ही काल में फलित होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं अपितु वे कर्म भिन्न २ काल में भी फलित हो सकते हैं। कौन कर्म कब परिपक्व होता है, इस बात को श्रीभगवान ही जानते हैं। हम लोग तो कर्मफल को देखकर अनुमान भर कर सकते हैं कि अमुक जीव को अमुक फल देने वाला कर्म परिपक्व हुआ है। इससे अधिक हम लोग नहीं जान सकते हैं। यह कर्म सिद्धान्त है। इसे सभी आस्तिक मानते हैं। इसके अनुसार यही निर्णय करना पड़ता है कि किसी २ जीव के उत्तम सुकृत परिपक्व होने पर श्रीभगवान उसे निमित्त बनाकर उन जीवों पर विशेष कृपा कटाक्ष करते हैं उससे जीवात्मा क्रम से आचार्य सम्बन्ध पाकर आचार्य के उपदेश के प्रभाव से प्रभावित हो मोक्षोपाय के अधिकारी बन जाते हैं, इसके लिये न कालनियम है, न देशनियम है, न अवस्थानियम ही हैं, जिन जीवों का इस प्रकार का उत्तम सुकृत परिपक्व नहीं हुआ वे ही संसारी बनकर रहते हैं। यह शङ्का किसी को भी नहीं करनी चाहिये कि अभी तक जो जीव मोक्षोपाय के अधिकारी नहीं बन सके हैं, वे आगे क्यों कर बनेंगे। इस शङ्का का समाधान यह है कि जीवों के कर्म विचित्र हैं, किसी २ जीव का कोई न कोई उत्तम सुकृत

किसी काल में परिपक्क होकर उस जीव की मोक्षोपाय में रुचि उत्पन्न कर सकता है, जिस प्रकार उन २ सुकृतों के अनुसार किसी २ जीव को किसी २ काल में अलभ्य ब्रह्मपद, रुद्रपद और इन्द्रपद इत्यादि प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार मोक्षोपाय की योग्यता भी प्राप्त हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य को इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करना चाहिये कि हमारी सत्संग में रुचि बढ़ती है या नहीं, हमको आचार्य के उपदेश में विश्वास बढ़ता है या नहीं, हमको इस तापत्रयाभिभूत संसार से विरक्ति बढ़ती है या नहीं, हमको श्रीभगवत्प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य बनाने की उत्कण्ठा होती है या नहीं, यदि इनमें प्रथम कोटि का पलड़ा भारी प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि मुझ पर श्रीभगवान की अपार कृपा है, मैं मोक्षोपाय का अधिकारी बन रहा हूं। ऐसा समझकर शीघ्रातिशीघ्र मोक्षोपाय में हाथ बटाने के लिये प्रवृत्त होना चाहिये।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य मोक्षोपाय का अधिकारी कब बन सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मोक्षोपाय उसे कहते हैं जिससे मोक्ष मिलता हो। मनुष्य किसी भी उपाय का अधिकारी तभी माना जा सकता है जब उस उपाय से मिलने वाले फल को प्राप्त करने की अभिलाषा हो तथा उस उपाय को निभाने की सामर्थ्य हो। इस नियम के अनुसार यही मानना चाहिये कि जिस मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने की उत्कण्ठा हो, तथा मोक्ष के साधन को निभाने की सामर्थ्य हो, वह मोक्षोपाय के लिये योग्य अधिकारी हो जाता है। मोक्षोपाय के लिये पर्याप्त योग्यता अर्थात् मोक्ष में रुचि तथा मोक्षोपाय को निभाने की सामर्थ्य किसी २ मनुष्य को किसी २ काल में कर्मविपाक के अनुसार प्राप्त हो जाती है।

**तद्वद्भक्तिप्रपत्त्योरधिकृतिनियमस्तादृशा नियत्या स्यात्**—अमुक कर्म से अमुक फल प्राप्त हो, यही कर्मनियति है। जिस प्रकार प्राचीन कर्मों के अनुसार किसी २ मनुष्य को मोक्षोपाय की योग्यता

प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्राचीन विलक्षण कर्मों के अनुसार कई मनुष्य भक्तियोग के अधिकारी बन जाते हैं, कई मनुष्य प्रपत्तियोग अर्थात् श्रीभगवच्छरणागति के अधिकारी बन जाते हैं। भक्तियोग और प्रपत्तियोग ये दोनों ही मोक्ष के साक्षात् साधन हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तियोग के अंग हैं। उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद्या भक्तियोग कहलाती है। उस भक्तियोग में अधिकार उसी पुरुष का माना जायेगा जो मोक्ष को चाहता हो, उस भक्तियोग के विषय में पूर्ण जानकारी रखता हो, भक्तियोग को निभाने की पूर्णशक्ति रखता हो, तथा भक्तियोग के लिये अपेक्षित त्रैवर्णिक जाति में जन्म और गुण इत्यादि रखता हो। प्रपत्तियोग का अधिकारी वह माना जायेगा जो अकिंचन हो अर्थात् जिसके पास कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इत्यादि कोई भी साधन न हो तथा अनन्यगति हो अर्थात् जो श्रीभगवत्प्राप्ति को छोड़कर दूसरे किसी प्रयोजन को सर्वथा न चाहता हो। इस प्रकार भक्तियोग और प्रपत्तियोग के अधिकारी भिन्न २ होते हैं। यह अधिकार भेद भी प्राचीन कर्म नियति के अनुसार हुआ करता है।

**शक्ताशक्तादितत्तत्पुरुषविषयतस्तद्व्यवस्था स्थाप्यते**—भक्तियोग और प्रपत्तियोग मोक्ष के उपाय हैं, इनसे मिलने वाले मोक्ष में कोई अन्तर नहीं। एक फल का साधन होने के कारण इन दोनों उपायों में विकल्प होता है। विकल्प का भाव यह है कि मोक्ष को चाहने वाला पुरुष चाहे भक्तियोग कर सकता है चाहे प्रपत्तियोग कर सकता है। इस अनियमितता को ही विकल्प कहते हैं। यहां पर यह प्रश्न होता है कि इन दोनों उपायों में भक्तियोग कठिन है क्योंकि मरण पर्यन्त उसकी आवृत्ति करते रहना चाहिये। प्रपत्तियोग जीवन में एक ही बार किया जाता है, वह भी क्षणकाल-साध्य है। इससे सिद्ध होता है कि भक्तियोग गुरु अर्थात् कठिन है, प्रपत्तियोग लघु अर्थात् सरल है। ऐसी स्थिति में संभव है कि सभी मुमुक्षु सरल प्रपत्तियोग में ही प्रवृत्त होना चाहेंगे। भक्तियोग

का अनुष्ठान कौन करेगा ? भक्तियोगविधायक शास्त्र भी सफल कैसे होगें। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि भक्तियोग कठिन तथा प्रपत्तियोग सरल है, तथापि इन दोनों के अधिकारी नियत होने के कारण उन २ अधिकारियों के द्वारा ये दोनों ही उपाय निभाये जा सकते हैं। जो भक्तियोग के विषय में पूर्ण जानकारी रखते हों, भक्तियोग को साधने के लिये शक्ति रखते हों, त्रैवर्णिक हों तथा विलम्ब से मोक्ष चाहते हों क्योंकि भक्तियोग विलम्ब से ही मोक्ष दे सकता है, वे भक्तियोग के अधिकारी हैं। जो साधक भक्तियोग के विषय में पूर्ण जानकारी न रखते हों तथा शक्ति न रखते हों, त्रैवर्णिक न हों, विलम्ब से मोक्ष न चाहते हों किन्तु शरीर छूटते ही मोक्ष चाहते हों, वे प्रपत्तियोग के अधिकारी हैं। इस व्यवस्था के अनुसार जो साधक जिस उपाय के अधिकारी हैं, वे उस उपाय को करेंगे। दोनों साधनों का ही प्रचार उन अधिकारियों के द्वारा होता रहेगा। इनमें एक भी शास्त्र व्यर्थ नहीं होगा। यहाँ पर यह समझना चाहिये कि उपर्युक्त दोनों ही उपाय मोक्ष के साधन हैं, अतएव इनमें विकल्प माना जाता है। दोनों के अधिकारी भिन्न २ हैं, विद्वान्, समर्थ, त्रैवर्णिक तथा विलम्ब से मोक्ष चाहने वाले साधक भक्तियोग करेंगे। अविद्वान्, असमर्थ, अत्रैवर्णिक तथा शीघ्र मोक्ष चाहने वाले साधक प्रपत्तियोग करेंगे। इस प्रकार अधिकारी भेद होने के कारण इन दोनों साधनों में व्यवस्थित विकल्प माना जाता है।

**तद्विकल्पः सम इति यच्चाहुस्तत् फलस्याविशेषात्**—यहाँ पर यह शङ्का होती है, इन दोनों साधनों में भक्तियोग कठिन तथा प्रपत्तियोग सरल है, ये दोनों साधन समान कोटि के नहीं हैं, ऐसी स्थिति में इनका विकल्प समविकल्प कैसे कहा जा सकता है समान कोटि के साधनों के विकल्प ही तो समविकल्प कहे जा सकते हैं। इस शङ्का का समाधान यह है कि कई लोगों ने इन दोनों साधनों के विषय में जो समविकल्प कहा है उसका भाव यही है कि इन

साधनों में कठिनता और सरलता के कारण वैषम्य रहने पर भी इनके द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष में कोई वैषम्य नहीं हैं। दोनों समान फल देते हैं, इसलिये इनका विकल्प समविकल्प कहा जाता है ॥ ५ ॥

( ६ )

**सानुक्रोशे समर्थे प्रपदनमृषिभिः स्मर्यतेऽभीष्टसिद्ध्यै**
**लोकेऽप्येतत् प्रसिद्धं न च विमतिरिह प्रेक्ष्यते क्वापि तन्त्रे ।**
**तस्मात् कैमुत्यसिद्धं भगवति तु भरन्यासविद्यानुभावं**
**धर्मस्थेयाश्च पूर्वे स्वकृतिषु बहुधा स्थापयाञ्चक्रुरेवम् ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने कहा है कि भक्ति और प्रपत्ति ये दोनों मोक्ष के साधन हैं, इनमें भक्तियोग कठिन है, प्रपत्तियोग सरल है। दोनों के अधिकारी भिन्न २ हैं, उन २ अधिकारियों को ये दोनों साधन मोक्ष दे सकते हैं इत्यादि। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी शरणागति के विषय में सन्देह करने वालों का शरणागति में विश्वास उत्पन्न करने के लिये अनेक प्रमाणों के आधार पर शरणागति की महिमा का वर्णन करते हैं।

**ऋषिभिः सानुक्रोशे समर्थे प्रपदनमभीष्टसिद्ध्यै स्मर्यते**—महर्षियों ने इतिहास और पुराणों में शरणागति के विषय में अनेक उपाख्यानों का वर्णन किया है। उन सबका आलोडन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शरणागति सर्वफलों का साधन है, उसमें विषयनियम को छोड़कर दूसरा कोई नियम नहीं है। अन्यान्य धर्मों में पाँच नियम लगते हैं। जिनमें एक है (१) देशनियम, वैदिक याग इत्यादि धर्मों में यह नियम लगता है कि पुण्यक्षेत्र में ही उनको करना चाहिये दूसरे देश में नहीं। शरणागति में यह नियम नहीं है, शरणागति सभी देशों में की जा सकती है। (२) दूसरा नियम कालनियम है। वैदिक याग इत्यादि धर्म वसन्त इत्यादि

काल में ही किये जा सकते हैं दूसरे काल में नहीं। शरणागति में यह नियम नहीं है। शरणागति सभी कालों में की जा सकती है। (३) तीसरा प्रकारनियम है, अन्यान्य धर्म स्नान, पादप्रक्षालन और आचमन इत्यादि करके ही किये जा सकते हैं अन्यथा नहीं। शरणागति में यह नियम नहीं। शरणागति में पाँच अङ्गों को छोड़कर दूसरे किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं। इसमें यह प्रमाण है कि द्रौपदी ने रजस्वलात्व दशा में ही शरणागति की। (४) चतुर्थ अधिकारीनियम है। वैदिक याग आदि करने के अधिकारी त्रैवर्णिक अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ही हैं। अकिंचन सभी जीव शरणागति के अधिकारी हैं। अतएव शरणागति में अधिकारीनियम नहीं है। धर्मपुत्र इत्यादि क्षत्रिय, कालियपत्नी और द्रौपदी इत्यादि स्त्रियाँ, देवरूप को छिपाकर श्रीजनकनन्दिनी के चरणों में महान् अपराध करने वाला काक, तिर्यग्योनि में जन्म लेने वाला प्रतिकूल कालिय तथा तिर्यग्योनि में जन्म लेने वाले अनुकूल गजेन्द्र, राक्षस जाति में जन्म लेने वाले श्रीविभीषण, गरुड़ से भयभीत सुमुख नामक सर्प और श्रीलक्ष्मण जी श्रीभगवान की शरण में गये हैं। शुनःशेफ और त्रिशंकु श्रीविश्वामित्र जी की शरण में गये हैं। इन सब उपाख्यानों से स्पष्ट होता है कि शरणागति सर्वाधिकार है अर्थात् शरणागति में सबका अधिकार है। अमुक जाति वाला ही शरणागति करे, ऐसा नियम शरणागति में नहीं है। (५) पाँचवाँ नियम फलनियम है। वैदिक याग इत्यादि धर्मों के विषय में यह नियम है कि अमुक याग अमुक फल ही दे सकता है। यही फलनियम है। यह नियम शरणागति में नहीं है। शरणागति सब प्रकार का फल दे सकती है। शरणागति के प्रभाव से धर्मपुत्र आदि को राज्य मिला, द्रौपदी को वस्त्र मिला, नाग पत्नियों को पति मिला, काक और कालिय को जीवित मिला, गजेन्द्र को भगवान मिले, श्रीविभीषण जी को श्रीराम मिलन प्राप्त हुआ, सुमुख को गरुड़जी से त्राण मिला, शुनःशेफ को आत्म रक्षा

मिली, त्रिशंकु को शरीर के साथ स्वर्ग प्राप्ति हुई, श्रीलक्ष्मण जी को कैङ्कर्य मिला। इन चरित्रों से व्यक्त होता है कि शरणागति से सब प्रकार का फल मिलता है।

शरणागति में एक ही नियम है, उसे विषयनियम कहते हैं। इसका भाव यह है कि सुयोग्य पुरुष के विषय में की जाने वाली शरणागति ही फलित हो सकती है। उसी पुरुष को ही सुयोग्य मानना चाहिये जो दयालु एवं समर्थ हो। जो दयालु न हो, उसकी शरण में जाने से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि वह दयालु न होने के कारण शरणागत को अपनायेगा ही नहीं, शरणागत के मनोरथ को पूर्ण करना तो बहुत दूर है। जो दयालु होने पर भी समर्थ न हो, वह शरणागत के मनोरथ को पूर्ण नहीं कर सकता, केवल सहानुभूति मात्र प्रदर्शित कर सकता है, सूखी सहानुभूति से तो कुछ होने जाने का नहीं हैं। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि शरणागति में एक विषयनियम ही है, दयालु व समर्थ के विषय में शरणागति करनी चाहिये, वह अवश्य फलित होगी। महर्षियों के द्वारा वर्णित अनेक उपाख्यानों से यह निर्णीत होता है कि दयालु एवं समर्थ के विषय में की जाने वाली शरणागति अवश्य फल देती है, कभी विफल नहीं होती।

**लोकेऽप्येतत् प्रसिद्धम्**—लोक में भी यह अर्थ बारम्बार देखने में आया है कि किसी आपत्ति में फँसा हुआ कोई मनुष्य उस आपत्ति को दूर करने केलिये यदि दयालु एवं समर्थ किसी महानुभाव की शरण में जाता है तो उस महानुभाव के द्वारा उसका मनोरथ अवश्य पूर्ण हो जाता है। शरणागति ऐसे प्रसंग में ही विफल होती देखने में आती है कि आपत्ति में फँसा कोई मनुष्य यदि ऐसे पुरुष की शरण में चला जाय जो दयालु न हो अथवा शरणागत के मनोरथ को पूर्ण करने की सामर्थ्य न रखता हो। दयालु एवं समर्थ पुरुष के विषय में की गई शरणागति अवश्य फलित होती

है। यह अर्थ लोक में भी प्रसिद्ध है। इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

**इह क्वापि तन्त्रे विमतिर्न च प्रेक्ष्यते**—उपर्युक्त शरणागति के विषय में किसी भी शास्त्र में विरुद्ध अभिप्राय का वर्णन देखने में नहीं मिलता। किसी शास्त्र में भी यह उल्लेख नहीं पाया जाता कि आपत्ति में फँसा हुआ अमुक मनुष्य समर्थ एवं दयालु अमुक महानुभाव की शरण में गया और उसका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ इत्यादि। उपर्युक्त शरणागति का खण्डन किसी भी शास्त्र में नहीं पाया जाता। सर्वत्र शरणागति का समर्थन ही मिलता है।

**तस्मात् कैमुत्यसिद्धं भगवति तु भरन्यासविद्यानुभावं धर्मस्थेयाश्च पूर्वे स्वकृतिषु बहुधा एवं स्थापयांचक्रु:**—जब लोक में समर्थ एवं दयालु मनुष्य की शरण में जाने पर शरणागत का मनोरथ सफल होता देखा गया है, कभी विफल होता नहीं देखा गया है, तब इस अर्थ को सबको मानना होगा कि श्रीभगवान के विषय में की जाने वाली शरणागति अवश्य फलित होगी क्योंकि श्रीभगवान परम दयालु एवं परम समर्थ हैं, मनुष्यों की दया एवं सामर्थ्य श्रीभगवान की दया एवं सामर्थ्य की कण ही मानी जा सकती है। दयालु एवं समर्थ मनुष्य के विषय में की गई शरणागति के सफल होने में जब सन्देह नहीं रहता, तब श्रीभगवान के विषय में शरणागति को कौन विफल मान सकता है? श्रीभगवान ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज इन ६ गुणों से सदा परिपूर्ण हैं तथा निर्दोष हैं, अतएव वे भगवान कहलाते हैं। उनके विषय में की गई शरणागति अवश्य फलित होगी, कभी विफल नहीं होगी। सर्वसमर्थ परम दयालु श्रीभगवान के विषय में की गई शरणागति का प्रभाव अपार है। अतएव श्रीभगवच्छरणागति सर्वफलप्रद कही जाती है। सन्देहास्पद धर्मों के विषय में निर्णय देने वाले श्रीशठकोपसूरि इत्यादि सूरिगण तथा श्रीयामुनाचार्य, श्रीरामानुज स्वामी जी और

श्रीकूरेश स्वामी जी इत्यादि पूर्वाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में श्रीभगवच्छरणागति के प्रभाव की पूर्णरूप से प्रमाण और तर्कों से स्थापना की है। सूरियों ने दिव्यप्रबन्धों में समर्थन किया, पूर्वाचार्यों ने स्तोत्ररत्न गद्यत्रय एवं पञ्चस्तवी इत्यादि ग्रन्थों से समर्थन किया है। उन ग्रन्थों का अध्ययन करने पर श्रीभगवच्छरणागति की महिमा पूर्णरूप से अवगत हो जायेगी ॥ ६ ॥

( ७ )

**शास्त्रप्रामाण्यवेदी ननु विधिविषये निर्विशङ्कोऽधिकारी**
**विश्वासस्याङ्गभावे पुनरिह विदुषा किं महत्त्वं प्रसाध्यम् ।**
**मैवं घोरापराधैः सपदि गुरुफले न्यासमात्रेण लभ्ये**
**शङ्का पार्ष्णिग्रहार्हा शमयितुमुचिता हेतुभिस्तत्तदर्हैः ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने श्रीभगवच्छरणागति के प्रभाव का समर्थन किया। इस श्लोक में महाविश्वास के विषय में उठे हुए प्रश्न का उत्तर देते हुए महाविश्वास का समर्थन करते हैं।

**ननु शास्त्रप्रामाण्यवेदी विधिविषये निर्विशङ्कोऽधिकारी इह विश्वासस्याङ्गभावे पुनः किं महत्त्वं प्रसाध्यम्**—इस श्लोक में पूर्वार्ध से शङ्का का वर्णन है। उत्तरार्ध से समाधान का वर्णन है। पूर्वार्ध में वर्णित शङ्का इस प्रकार है कि आस्तिक पुरुष शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं, वे शास्त्र में पूर्ण विश्वास रखते हैं, शास्त्रों के द्वारा वर्णित अर्थों के विषय में उनके मन में शङ्का उठती ही नहीं। श्रीभगवच्छरणागति शास्त्र के द्वारा वर्णित परम धर्म है। श्रीगीता में श्रीभगवान ने चरम श्लोक में सर्वधर्मों को छोड़कर अपनी शरण में आने के लिये विधान किया है। शरणागति के विषय में भी आस्तिक को विश्वास होना न्यायप्राप्त है। शास्त्र-विहित प्रत्येक धर्म का आचरण करने वाले सज्जन उस धर्म के विषय में अवश्य यह विश्वास रखते हैं कि इस धर्म का अनुष्ठान

करने पर हमें अवश्य अमुक फल प्राप्त होगा। ऐसा विश्वास होने पर ही वे उस धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो सकते हैं अन्यथा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि शास्त्र विहित धर्म के अनुष्ठान में विश्वास अपेक्षित है, अतएव अंग है। शास्त्र विहित श्रीभगवच्छरणागति के अनुष्ठान में भी विश्वास अपेक्षित है, अतएव विश्वास शरणागति का भी अंग है। इतनी बात तो समझ में आती है। शास्त्र में कहा गया है कि महाविश्वास शरणागति का अंग है। यही अर्थ समझ में नहीं आता। यह महाविश्वास क्या है ? इसकी महत्ता कैसी है ? विश्वास से बढ़कर महाविश्वास क्या चीज है ? विश्वास को अंग मानना उचित ही है, सभी धर्मों के लिये उसकी आवश्यकता है। अन्यान्य धर्मों के समान शरणागति में भी विश्वास आवश्यक माना जा सकता है। शास्त्र तो शरणागति में महाविश्वास को अंग बतला रहे हैं। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि यहाँ पर विश्वास की महत्ता कैसी ? उसे साधक को कैसे साधना होगा ? इस शङ्का का वर्णन पूर्वार्ध में है। उत्तरार्ध में इसका समाधान वर्णित है।

**मैवम् घोरापराधैः सपदि न्यासमात्रेण लभ्ये गुरुफले पार्ष्णिग्रहार्हा शङ्का तत्तदर्हैर्हेतुभिः शमयितुमुचिता**—शङ्का का समाधान इस प्रकार है कि लोक में विश्वास का तारतम्य देखने में आता है। किसी पर हम लोग कम विश्वास रखते हैं किसी पर अधिक विश्वास रखते हैं। अतएव नीति शास्त्र में कहा गया है कि—

**न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्**—अर्थात् अविश्वसनीय पुरुष पर विश्वास न करें, विश्वसनीय पुरुष पर भी अधिक विश्वास न रक्खें। इससे यह सिद्ध होता है कि विश्वास में भी तारतम्य है, कोई मन्दविश्वास है, कोई महाविश्वास है। अविचाल्य विश्वास को महाविश्वास कहते हैं। जो विश्वास खण्डन युक्तियों से विचलित हो जाता है, वह मन्दविश्वास है, जो विश्वास भयंकर

से भयंकर युक्तियों से भी विचलित नहीं होता है वही महाविश्वास है। महाविश्वास को प्रपत्ति का अंग बतलाने वाले शास्त्रों का यही अभिप्राय है कि शरणागत को शरणागति एवं भगवान में ऐसा विश्वास होना चाहिये जो उत्तरकाल में भयंकर दुर्विचारों से भी डिगे नहीं।

अन्यान्य धर्म और शरणागति धर्म में यह महान् अन्तर है कि शास्त्र पर विश्वास रखने वाले आस्तिक सज्जनों को शास्त्र के द्वारा अवगत अन्यान्य धर्मों के विषय में न शङ्का ही उठती है न अविश्वास ही होता है, उनका मन स्वीकार करता है कि इस क्लेशसाध्य उपाय से अमुक फल प्राप्त हो सकता है। परन्तु शास्त्रों के द्वारा भगवच्छरणागति से मोक्षसिद्धि की बात सुनने पर महान् आस्तिक के भी मन में नाना प्रकार की शङ्कायें अवश्य उत्पन्न होती हैं। वे इस प्रकार शीघ्र उत्पन्न होती हैं कि जिस प्रकार आगे चलने वाले के चरण के पृष्ठ भाग को पीछे वेग से चलने वाला पुरुष तुरन्त चरण से दबा देता है। उसी प्रकार शास्त्र के द्वारा श्रीभगवच्छरणागति की बात सुनते ही नाना प्रकार की शङ्कायें उठकर विश्वास को दबा देती हैं। साधकों को चाहिये कि समीचीन युक्तियों से उन शङ्काओं को दूर कर विश्वास को सुदृढ़ कर लें। यह सुदृढ़ विश्वास ही महाविश्वास कहलाता है, यह महा-विश्वास डिगने वाला नहीं है, यही शरणागति का अंग है।

अब यह प्रश्न उठता है कि वे शङ्कायें कौनसी हैं जिनसे विश्वास घटने लगता है, उन शङ्काओं को कैसे दूर करना चाहिये ? वे सद्विचार कौन से हैं जिनसे शङ्कायें दूर हो जाती हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में उन शङ्काओं और समाधानों पर प्रकाश डाला जाता है। शरणागति का विधान करने वाले शास्त्रों का सार अर्थ यही है कि भयंकर अपराध करने वाले जीवों के द्वारा भी क्षण-कालसाध्य केवल शरणागति से तत्क्षण ही महाफल मोक्ष प्राप्त

किया जाता है। इस अर्थ को सुनते ही आस्तिक पुरुष के मन में भी पाँच प्रकार की शङ्कायें उठती हैं, सद्विचारों से उन्हें दूर करना चाहिये।

(१) प्रथम शंका यह है कि श्रीभगवान सर्वज्ञ हैं तथा सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, हम लोगों ने अनादिकाल से श्रीभगवान की आज्ञा का उल्लंघन कर नाना प्रकार के अपराध किये अतएव श्रीभगवान हम लोगों के विषय में रूठे हुए हैं। उसी का यह फल है कि हम लोग मोक्ष के प्रथम साधन कर्मयोग के भी अनधिकारी हो गये हैं। श्रीभगवान सर्वज्ञ होने के कारण हमारे प्रत्येक अपराध को जानते हैं, सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण हमारे प्रत्येक अपराध के लिये दण्ड देने में भी समर्थ हैं। ऐसी स्थिति में श्रीभगवान की सन्निधि में कैसे जा सकते हैं? वे भगवान भी हम लोगों को क्यों कर अपनायेंगे? यह प्रथम शङ्का है। श्रीमहालक्ष्मी जी की महिमा को जानने पर यह शंका दूर हो जाती है। जगन्माता श्रीमहालक्ष्मी जी श्रीभगवान की परमप्रिय धर्मपत्नी हैं। वे भी भगवान की शरण में आने के लिये उत्सुक जीवों को अपनाने के लिये नाना प्रकार से समझा बुझाकर श्रीभगवान को प्रोत्साहित करती रहती हैं। यही उनका काम है। श्रीभगवान परमप्रेयसी श्रीमहालक्ष्मी जी की इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं, न उनकी सिफारिश का तिरस्कार कर सकते हैं। जिस प्रकार सम्राट् सम्राज्ञी की सिफारिश के कारण रनिवास के परिजनों के भयंकर अपराधों को भी क्षमा कर उनको आश्रय देते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान भी इनकार करने अयोग्य श्रीमहालक्ष्मी जी के कथन के अनुसार भयंकर अपराधों को भी क्षमा करके उन जीवों को आश्रय देते हैं। श्रीमहालक्ष्मी जी की बलवत्तर प्रेरणा के अनुसार आश्रितों के अपराधों को सहन करने के कारण श्रीविष्णुसहस्रनाम में श्रीभगवान का "अविज्ञाता" ऐसा नाम पड़ा है जिसका भाव यही है कि श्रीभगवान आश्रितों के अपराधों को मानो बिलकुल नहीं जानते हैं। श्रीमहालक्ष्मी जी

के कथन के अनुसार काम करने वाले आश्रितों के अपराधों के विषय में "अविज्ञाता" बनने वाले क्षमानिधि श्रीभगवान की शरण में जाने में भयंकर अपराधियों को भी नहीं हिचकना चाहिये। इस प्रकार श्रीमहालक्ष्मी जी की महत्ता को हृदयंगम करने पर प्रथम शंका दूर हो जाती है।

(२) दूसरी शंका यह है कि श्रीभगवान कर्मों के अनुरूप फल देने वाले हैं, महान् कर्म करने वालों को महाफल देते हैं, क्षुद्र कर्म करने वालों को क्षुद्र फल देते हैं। यह शरणागति अत्यन्त सरल है, यह क्षणकाल में साध्य है, इसकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं, यह आनुकूल्य, संकल्प इत्यादि पाँच अंगों को छोड़कर दूसरे किसी की अपेक्षा भी नहीं रखती। अत्यन्त सरल होने के कारण शरणागति क्षुद्र कर्मों में ही गिनने योग्य है। श्रीभगवान को अपनी शरण में आने वालों को क्षुद्र फल ही देना चाहिये। वे कर्मानुरूप फलप्रद होने के कारण इस क्षुद्र शरणागति के लिये क्षुद्र फल ही देंगे। ऐसी स्थिति में इस बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि केवल शरणागति से प्रसन्न होकर भगवान अनन्त अपराध करके बैठे हुए जीवों को अनन्त महाफल मोक्ष का प्रदान करेंगे। यह बात तो सर्वथा अविश्वसनीय प्रतीत होती है। यह दूसरी शंका है। यह शंका दासस्वामिभाव सम्बन्ध की महत्ता को हृदयंगम करने पर दूर हो जाती है। श्रीभगवान स्वामी हैं, जीव श्रीभगवान का दास है। इन दोनों का यह सम्बन्ध कभी मिटने वाला नहीं है। जिस प्रकार पिता की सम्पत्ति में पुत्र का न्यायप्राप्त अधिकार है, उसी प्रकार स्वामी श्रीभगवान की सेवा में दास जीवों का न्यायप्राप्त अधिकार है। जिस प्रकार सम्राट् अपराधी पुत्र के द्वारा क्षमायाचना करने पर प्रसन्न होकर पितापुत्रभाव सम्बन्ध के ही कारण उसे यौवराज्य पद पर अभिषिक्त करते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान जीवों के द्वारा शरणागति किये जाने पर शरणागति की क्षुद्रता पर ध्यान न देकर अकाट्य दासस्वामिभाव सम्बन्ध पर ध्यान देते हुए दाय

के समान न्यायप्राप्त मोक्षपद पर अर्थात् कैंकर्य-साम्राज्य पद पर शरणागत जीवों को अभिषिक्त करते हैं। इस प्रकार दासस्वामि-भाव सम्बन्ध की महत्ता पर ध्यान देने से दूसरी शंका दूर हो जाती है।

(३) तीसरी शंका यह है कि श्रीभगवान अवाप्तसमस्तकाम हैं, अतएव परिपूर्ण हैं, वे किसी जीव के द्वारा किसी उपकार की अपेक्षा नहीं रखते हैं, उनको किसी भी जीव के द्वारा किसी उपकार को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं। परिपूर्ण भगवान इस अल्प व्यापार शरणागति को निमित्त बनाकर क्यों महाफल मोक्ष का प्रदान करेंगे? यह तीसरी शंका है। यह शंका श्रीभगवान के कल्याणगुणों की महत्ता पर ध्यान देने से दूर हो जाती है। श्रीभगवान में दया इत्यादि कल्याणगुण हैं, वे स्वाभाविक हैं, जिस प्रकार जल में शीतता और अग्नि में उष्णता स्वाभाविक गुण हैं उसी प्रकार श्रीभगवान में दया इत्यादि गुण भी स्वाभाविक हैं। जिस प्रकार मिलनसार सम्राट् हाथ जोड़ना और मधुर भाषण करना इत्यादि लघु व्यापारों से प्रसन्न होकर अनुकूल बन जाते हैं, प्रार्थियों के मनोरथ को पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार समस्तकल्याण-गुणनिधि श्रीभगवान अपने स्वाभाविक दया इत्यादि कल्याण-गुणों के कारण क्षुद्र व्यापार शरणागति को परमोपकार मानते हुए कृतज्ञता से प्रेरित होकर जीवों के मनोरथों को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार श्रीभगवान के कल्याणगुणों की महत्ता पर ध्यान देने से तृतीय शंका दूर होती है।

(४) चतुर्थ शंका यह है कि श्रीगीता में कहा गया है कि—

**कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।**
**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥**

अर्थात्—शीघ्र कर्मफल को चाहते हुए मनुष्य देवताओं का ही यजन करते हैं। मनुष्य लोक में देवताओं के द्वारा कर्मफल जल्दी

मिल जाता है। इससे सिद्ध होता है कि देवता जल्दी फल देते हैं, श्रीभगवान विलम्ब से फल देते हैं। ऐसी स्थिति में यह बात कैसे मानी जा सकती है कि श्रीभगवान आर्त शरणागत को उसी क्षण मोक्ष देते हैं, दृप्त शरणागत को देह छूटते ही मोक्ष देते हैं। विलम्ब से फल देना जिनका स्वभाव है वे भगवान इस प्रकार जल्दी कैसे फल दे सकते हैं ? यह चतुर्थ शङ्का है। यह शङ्का श्रीभगवान के संकल्प की महत्ता को समझने पर दूर हो जाती है। श्रीभगवान का संकल्प अमोघ है, वह दूसरे किसी सहकारी कारण की अपेक्षा नहीं रखता। भले ही श्रीभगवान अन्यान्य सांसारिक फलों को विलम्ब से दें क्योंकि वे साधकों को अहितावह हैं। परन्तु मोक्ष साधकों को अत्यन्त हितावह है, अतएव श्रीभगवान इसे शीघ्र देते हैं, उनका संकल्प अमोघ होता है। इस प्रकार संकल्प की महत्ता पर ध्यान देने से चौथी शङ्का दूर हो जाती है।

(५) पाँचवी शङ्का यह है कि भक्तियोग क्लेशसाध्य होने के कारण भक्तियोगनिष्ठ साधकों को उत्तम साधक मानना चाहिये, शरणागति सरल होने के कारण शरणागतों को निम्न कोटि के साधक मानना चाहिये। इस प्रकार साधकों में तारतम्य है। इस तारतम्य पर ध्यान न देकर श्रीभगवान सब साधकों को एक सा फल कैसे दे सकते हैं ? यह पाँचवी शङ्का है। यह शङ्का मोक्षरूपी महाफल की विशेषता पर ध्यान देने से दूर हो जाती है। मोक्ष को जीव और ईश्वर दोनों अपना लाभ समझते हैं क्योंकि मोक्ष में जीव को ईश्वर मिलते हैं तथा ईश्वर को जीव मिलता है। इसमें दोनों का लाभ है। अधिकाधिक जीव प्राप्त होने पर ईश्वर अपना अधिक लाभ समझते हैं। इसलिये ईश्वर साधकों के तारतम्य पर ध्यान न देकर अपने लाभ की दृष्टि से सबको मोक्ष देते हैं। जिस प्रकार राजा राजकुमार के साथ एक पंक्ति में तोते को भी बैठाकर दूध पिलाते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान भी सब साधकों को ब्रह्मानन्द का अनुभव कराते हैं। श्रीरामचन्द्र भगवान ने

अयोध्यावासी सभी प्राणियों को अन्त में मोक्ष दिया। इस कथा को दृष्टान्त मानकर इस अर्थ को हृदयंगम करना चाहिये। मोक्ष में ईश्वर का भी लाभ है, इस बात पर ध्यान देने पर पाँचवीं शङ्का दूर हो जाती है।

इस प्रकार उठने वाली शङ्काओं को समुचित युक्तियों के द्वारा दूर कर विश्वास दृढ़ करने के लिये इस श्लोक में कहा गया है ॥ ७ ॥

( ८ )

**नेहाभिक्रान्तिनाशो न च विमतिरिह प्रत्यवायो भवेदि-**
**त्युक्तं कैमुत्यनीत्या प्रपदनविषये योजितं शास्त्रविद्भिः ।**
**तस्मात् क्षेत्रे तदर्हे सुविदितसमयैर्देशिकैस्सम्यगुप्तं**
**मन्त्राख्यं मुक्तिबीजं परिणतिवशतः कल्पते सत्फलाय ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने शरणागति में महाविश्वास की आवश्यकता तथा नाना प्रकार के सद्विचारों से महाविश्वास को दृढ़ करने के लिये कहा। इस पर एक प्रश्न उठता है। वह इस प्रकार है कि उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि शरणागति में महाविश्वास की आवश्यकता है। महाविश्वास को प्राप्त करना कलियुगी जीवों को अत्यन्त कठिन है, महाविश्वास की अपेक्षा रखने से शरणागति भी कठिन ही सिद्ध होती है। इस कठिन शरणागति की क्या आवश्यकता है ? शरणागति के बिना भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है। शास्त्र में कहा गया है कि—

**सकृज्जप्तेन मन्त्रेण कृतकृत्यः सुखी भवेत्**—अर्थात् शरणागति मन्त्र का एक बार जप करने से ही साधक कृतकृत्य तथा सुखी हो जाता है। इस वचन से प्रतीत होता है कि शरणागति मन्त्र के एक बार जप से ही साधक मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। श्रीसम्प्रदाय के आचार्य श्रीकूरेश स्वामी जी ने भी कहा है कि—

**यथाऽसि यावानसि योऽसि यद्गुणः**
**करीश यादृग्विभवो यदिङ्गितः ।**
**तथाविधं त्वाऽहमभक्तदुर्ग्रहं**
**प्रपत्तिवाचैव निरीक्षितुं वृणे ॥**

अर्थात्—हे श्रीवरदराज भगवन् ! आप जो कुछ हो, आप जैसे हो, आप जितने हो, आप जिन गुणों से युक्त हो, आप जिस प्रकार की विभूतियों से युक्त हो, आप जैसे २ व्यापार करते रहते हो, विलक्षणस्वरूप, रूप, गुण, विभूति और व्यापारों से युक्त आप उन लोगों के जानने में अशक्य हैं, जो आप के विषय में भक्ति न रखते हों। उन आपको मैं केवल प्रपत्तिमन्त्र के बल से ही देखना चाहता हूँ। इस श्लोक से व्यक्त होता है कि शरणागति मन्त्र से ही जीव का उद्धार हो जाता है। शरणागति मन्त्र के उच्चारण मात्र से ही जब मोक्ष प्राप्त हो सकता है, तब शरणागति की क्या आवश्यकता है ? मन्त्र का उच्चारण तो सब कर सकते हैं, शरणागति तो सब नहीं कर सकते क्योंकि उसमें महाविश्वास की आवश्यकता है, महाविश्वास सबसे सधता नहीं, ऐसी स्थिति में शरणागति के लिये क्यों जोर दिया जाता है ? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर श्रीदेशिक स्वामी जी इस श्लोक से देते हैं।

उत्तर इस प्रकार है कि श्रीभगवान ने यह कहा है कि—

**भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामुने ।**
**प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो मम कैङ्कर्यलिप्सुभिः ॥**

अर्थात्—हे महामुने ! मेरा कैङ्कर्य प्राप्त करने को लालायित साधकों को मैं परमाभक्ति अथवा प्रपत्ति के द्वारा प्राप्य हूँ दूसरे प्रकार से नहीं। श्रीभगवान के इस वचन से सिद्ध होता है कि भक्ति और प्रपत्ति ही भगवत्प्राप्ति के साधन हैं, इनके सिवाय दूसरा कोई साधन है ही नहीं। अध्यात्म शास्त्र का यह अटल

सिद्धान्त है कि **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** अर्थात् ज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता, ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। यह सिद्धान्त **तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते** इस श्रुतिवचन से भी प्रमाणित है। उपर्युक्त श्रुतिवचन का यह भाव है कि परब्रह्म को जानने वाला साधक मुक्त होता है, ज्ञान को छोड़कर दूसरा कोई मोक्ष साधन है ही नहीं। यह सिद्धान्त युक्तियुक्त है क्योंकि संसार का कारण अज्ञान है, वह ज्ञान से ही दूर हो सकता है। वह ब्रह्मज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति के रूप में माना जाता है क्योंकि भक्ति और प्रपत्ति ज्ञान का विकासविशेष ही हैं। उपर्युक्त उपनिषद्वचन और भगवद्वचन से यही सिद्ध होता है कि भक्तिप्रपत्तिरूप ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष होता है। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि यदि भक्तिप्रपत्तिरूप ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है तब **सकृज्जप्तेन मन्त्रेण कृतकृत्यः सुखी भवेत्, प्रपत्तिवाचैव निरीक्षितुं वृणे** इस प्रकार के वचनों से यह क्यों कहा गया कि शरणागति मन्त्र के उच्चारण मात्र से मोक्ष प्राप्त होता है। इन वचनों की संगति कैसे लगानी चाहिये। इस शङ्का का समाधान यह है कि **ज्ञानान्मोक्षः** इस सार्वभौम सिद्धान्त को ध्यान में रखकर उसके अविरुद्ध रूप में इन वचनों का भाव मानना चाहिये। अविरुद्ध भाव लगाया जा सकता है। वह इस प्रकार है कि श्रीगीता में श्रीभगवान ने कर्मयोग के विषय में कहा है कि—

**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।**
**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥**

अर्थात्—इस निष्काम कर्मयोग का थोड़ा भी आरम्भ किया जाय, आरम्भ करके भले ही समाप्त न किया जाय, तो भी आरब्ध अंश व्यर्थ नहीं होता, नष्ट नहीं होता अपितु वह अवश्य फल देता ही है। जिस प्रकार पक्की नींव नहीं टूटती भले उस पर मकान न बनाया गया हो, उसी प्रकार कर्मयोग का अनुष्ठित स्वल्पांश भी नष्ट नहीं होता। कर्मयोग में विच्छेद होने पर भी प्रत्यवाय

नहीं होता, कोई दोष नहीं लगता। कर्मयोग का स्वल्प अंश भी साधक को महान् संसारभय से बचाता है क्योंकि वह स्वल्प अंश भी कालान्तर में सम्पूर्ण कर्मयोग को कराकर ज्ञानयोग और भक्तियोग के द्वारा मोक्ष का कारण हो जाता है। यह गीता का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृत में समन्वय करना चाहिये, जब कर्मयोग के स्वल्प अंश का भी ऐसा प्रभाव है, तब शरणागति मन्त्र आदि के विषय में क्या कहना है ? उसका एक बार उच्चारण भी व्यर्थ नहीं होगा, वह अनुकूल समय पाकर सम्पूर्ण शरणागति कराकर मोक्ष साधन अवश्य करायेगा। अतएव शास्त्र में कहा गया है कि—

**सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।**
**बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥**

अर्थात्— जिसने **हरिः** इन दोनों अक्षरों का एक बार भी उच्चारण कर लिया उसने मोक्ष पाने के लिये कमर कस ली, ऐसा मानना चाहिये। यहाँ पर कमर कसने का भाव यह है कि श्रीभगवन्नाम का उच्चारण करने वाले साधक ने भले ही उसी क्षण मोक्ष न पाया हो तो भी मानना चाहिये कि उसने मोक्ष पाने के लिये तैयारी कर ली, उसका वह नामोच्चारण कभी व्यर्थ नहीं होगा। वह अनुकूल समय पाकर साधक से सम्पूर्ण मोक्ष साधक का अनुष्ठान कराकर साधक को मोक्ष पद में बैठायेगा ही। जब श्रीभगवन्नाम के उच्चारण का यह प्रभाव है, तब शरणागति मन्त्र के विषय में क्या कहना है ? शरणागति मन्त्र का एक बार उच्चारण भी कभी व्यर्थ नहीं होगा, वह अनुकूल समय पाकर साधक से सम्पूर्ण शरणागति कराकर साधक को मोक्ष पद में बैठायेगा। इस मर्म को मन में लेकर ही **सकृज्जप्तेन मन्त्रेण कृत-कृत्यः सुखी भवेत्, प्रपत्तिवाचैव निरीक्षितुं वृणे** इत्यादि वचन कहे गये हैं। इन वचनों का भाव यही है कि शरणागति मन्त्र का एक

बार उच्चारण भी क्रम से साधक को मुक्ति पद में पहुंचा सकता है क्योंकि वह अनुकूल समय पाकर शरणागति रूप उत्तम परिणाम को प्रकट करेगा और उसके द्वारा मोक्ष दिला सकता है। इस अभिप्राय को व्यक्त करते हुए श्रीदेशिक स्वामी जी वर्णन करते हैं कि—

**इहाभिक्रान्तिनाशो नास्ति इह प्रत्यवायो भवेदिति विमतिर्नचास्ति इत्युक्तं कैमुत्यनीत्या शास्त्रविद्भिः प्रपदनविषये योजितम्**— श्रीभगवान ने गीता में कहा है कि इस कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं होता, छोड़ने पर प्रत्यवाय होने की संभावना भी नहीं है, आरब्ध अंश अवश्य क्रम से फल देता है। श्रीभगवान के द्वारा वर्णित इस अर्थ को शास्त्रज्ञों ने कैमुतिक न्याय से शरणागति मन्त्र के विषय में लगाकर कहा कि शरणागति मन्त्र का एक बार उच्चारण भी व्यर्थ नहीं होगा, वह शरणागति कराकर मोक्ष दिलायेगा। अतएव शरणागति मन्त्र के विषय में सात्त्वततन्त्र में कहा गया है कि—

**अनेनैव तु मन्त्रेण स्वात्मानं मयि निक्षिपेत् ।**
**मयि निक्षिप्तकर्तव्यः कृतकृत्यो भविष्यति ॥**

अर्थात्—श्रीभगवान आज्ञा देते हैं कि इस शरणागति मन्त्र से साधक मुझमें आत्मा को समर्पित करे, मुझ पर अपने कर्तव्यभार को सौंपकर साधक कृतकृत्य हो जाता है। यहाँ पर श्रीभगवान ने शरणागति मन्त्र से आत्मसमर्पण करने को कहा है। यदि शरणागति मन्त्र के उच्चारण मात्र से मोक्ष मिलता तो आत्म समर्पण करने के लिये श्रीभगवान क्यों कहते ? इससे सिद्ध होता है कि मन्त्र का उच्चारण भी शरणागति के द्वारा मोक्ष देता है इससे फलित होता है कि मन्त्रोच्चारण से शरणागति की अनावश्यकता सिद्ध नहीं होती। शरणागति भी अत्यावश्यक है।

**तस्मात् तदर्हे क्षेत्रे सुविदितसमयैर्देशिकैः सम्यगुप्तं मन्त्राख्यं मुक्तिबीजं परिणतिवशतः सत्फलाय कल्पते**—उपर्युक्त विवेचन के

अनुसार यही निश्चय करना पड़ता है कि जिस प्रकार हल इत्यादि चलाकर जो खेत बीज बोने के योग्य बनाया गया हो उस खेत में उपयुक्त समय को परख कर किसानों के द्वारा अच्छी तरह से बोया गया बीज कालक्रम से अनेक परिणामों को प्राप्त कर अन्त में उत्तम धान्य प्रदान करता है उसी प्रकार परीक्षा इत्यादि करके जो शिष्य मन्त्र देने योग्य सुपात्र समझा गया हो, उस सुपात्र शिष्य में श्रीसिद्धान्त को अच्छी तरह समझने वाले आचार्यों के द्वारा बोया गया शरणागतिमन्त्ररूपी मोक्ष का बीज भी कालक्रम से उत्तम परिणामों को प्राप्त कर मोक्षरूपी उत्तम फल को देने के लिये समर्थ हो जाता है। यहाँ पर शरणागति का अनुष्ठान ही उत्तम परिणाम है। यहाँ पर रूपकालंकार से वर्णन किया गया है। यह ध्यान देने योग्य अर्थ है कि यहाँ पर शिष्य को खेत के रूप में, परीक्षा को हल चलाने के रूप में, आचार्य को किसान के रूप में, मन्त्र को बीज के रूप में, शरणागति को परिणाम के रूप में, मोक्ष को फल के रूप में चित्रित किया गया है। सार यह है कि जिस प्रकार बीज तुरन्त फल नहीं देता किन्तु अनेक परिणामों को प्राप्त करने के बाद ही फल देता है, उसी प्रकार शरणागति मन्त्र का उच्चारण भी साक्षात् मोक्ष नहीं देता अपितु शरणागतिरूप परि-णाम के बाद ही मोक्ष देता है शरणागति के बिना मन्त्रोच्चारण मोक्ष नहीं दे सकता अतः शरणागति आवश्यक है। शरणागति के बिना श्रीभगवान मोक्ष नहीं दे सकते। सबको शरणागत बनना चाहिये ॥ ८ ॥

( ९ )

**न्यासः प्रोक्तोऽतिरिक्तं तप इति कथितः स्वध्वरश्चास्यकर्ताऽ-**
**हिर्बुध्न्योऽप्यन्ववादीदगणि दिविषदामुत्तमं गुह्यमेतत् ।**
**साक्षान्मोक्षाय चासौ श्रुत इह तु मुधा बाधशङ्का गुणाढ्ये**
**तन्निष्ठो ह्यन्यनिष्ठान् प्रभुरतिशयितुं कोटिकोटयंशतोऽपि ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने यह बतलाया कि शरणागतिमन्त्र एवं भगवन्नाम का उच्चारण शरणागति के द्वारा मोक्ष दिलाते हैं साक्षात् नहीं। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि शरणागति भी भक्तियोग के द्वारा मोक्षसाधन बने तो क्या आपत्ति है? शरणागति का साक्षात् मोक्षसाधनत्व क्यों मानना चाहिये? शरणागति से भक्तियोग सधता है, भक्तियोग से मोक्ष मिलता है, इस प्रकार परम्परा मानने में क्या दोष है? इस शङ्का के उत्तर में श्रीदेशिक स्वामी जी अनेक प्रमाणों के बल से शरणागति के साक्षात् मोक्षसाधनत्व का समर्थन करते हैं—

**न्यासोऽतिरिक्तं तप इति प्रोक्तः**—शरणागति साक्षात् मोक्ष का साधन है, इस अर्थ को बतलाने वाली श्रुति तो है ही अन्यान्य युक्तियों से भी यह अर्थ प्रमाणित होता है। तैत्तिरीय नारायणोपनिषत् में यह वचन मिलता है।

**तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः।**

अर्थात्—शरणागति की महिमा अपार है इसलिये ऋषिगण कहते हैं कि न्यास अर्थात् शरणागति सब तपस्याओं में अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस वचन से सिद्ध होता है कि शरणागति सर्वोत्तम साधन है। शरणागति सर्वोत्तम साधन तभी मानी जा सकती है यदि साक्षात् मोक्ष दे सकती हो। इससे शरणागति का साक्षान्मोक्षसाधनत्व सिद्ध होता है।

**अस्य कर्ता स्वध्वरश्च कथितः, अहिर्बुध्न्योऽप्यन्ववादीत्**—न्यासविद्या अर्थात् शरणागति करने वाला मनुष्य ऋग्मन्त्र में शोभन यज्ञ करने वाला कहा गया। अहिर्बुध्न्य ने भी अहिर्बुध्न्यसंहिता में उपर्युक्त ऋग्मन्त्र का अनुवाद करते हुए कहा है कि—

**समित्साधनकादीनां यज्ञानां न्यासमात्मनः।**<br>
**नमसा योऽकरोद्देवे स स्वध्वर इतीरितः॥**

अर्थात्—समिधा, घृत और पुरोडाश हवि इत्यादि साधनों से

सम्पन्न होने वाले यागों में एक आत्मयाग है जिसमें आत्मरूपी हवि श्रीभगवानरूपी अग्नि में नमः शब्द से समर्पित होती है। नमः शब्द से समर्पण करता हुआ साधक यह बतलाता है कि यह आत्म हवि मेरा नहीं है किन्तु श्रीभगवान का है। इस प्रकार आत्मयाग-रूपी न्यास अर्थात् शरणागति करने वाला साधक ऋग्वेद में उत्तम याग करने वाला कहा गया है। वह ऋग्वेद का मन्त्र यह है कि—

**यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये।**
**यो नमसा स्वध्वरः॥**

अहिर्बुध्न्य ने इसी ऋग्मन्त्र का ही विवरण किया है। इन वचनों में शरणागतिरूप आत्मयाग उत्तमयाग कहा गया है। यह उत्तमयाग तभी बन सकता है यदि उत्तम फल देने की सामर्थ्य रक्खे। इससे सिद्ध होता है कि शरणागति साक्षात् मोक्ष दे सकती है।

**एतद् दिविषदामुत्तमं गुह्यमगणि, एतद्वै देवानां गुह्यम्**—इस उपनिषद् वचन से यह कहा गया है कि यह न्यासविद्या अर्थात् शरणागति देवताओं का भी गोप्य है, देवता भी इसे नहीं जानते। ऐसा तभी कहा जा सकता है यदि शरणागति उत्तम मोक्षसाधन हो। इस वचन से भी शरणागति का साक्षात् मोक्षसाधनत्व व्यक्त होता है।

**साक्षान्मोक्षाय चासौ श्रुतः**—न केवल उपर्युक्त प्रमाणों से शरणागति का साक्षात् मोक्षसाधनत्व सिद्ध होता है किन्तु श्रुति में स्पष्ट शब्दों में कहा भी गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में निम्न-लिखित वचन मिलता है कि—

**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।**
**तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥**

अर्थात्—जिन्होंने सर्वप्रथम ब्रह्मा जी की सृष्टि की, जिन्होंने ब्रह्मा जी के लिये वेदों को भेजा अर्थात् वेदों का उपदेश दिया,

अपने विषय में बुद्धि के प्रकाश को उत्पन्न करने वाले उन देवाधि-देव श्रीभगवान की शरण में मुमुक्षु मैं जाता हूँ। इस मन्त्र में मुमुक्षु अर्थात् मोक्षार्थी को श्रीभगवान की शरण में जाने का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि शरणागति साक्षात् मोक्षसाधन है अर्थात् सीधे मोक्ष देती है दूसरे किसो साधन को बीच में लेकर नहीं।

**गुणाढ्ये इह तु बाधशङ्का मुधा**—शरणागति उत्तम गुणों से पूर्ण है, ऐसे गुण दूसरे साधनों में हैं ही नहीं, यहाँ तक कि भक्ति-योग में भी नहीं हैं। भाव यह है कि शरणागत श्रीभगवान को ही मोक्ष का उपाय मानते हैं, इससे शरणागत की रक्षा करने का भार श्रीभगवान पर पड़ता है श्रीभगवान शरणागत की रक्षा का भार अपने ऊपर लेते भी हैं। भक्तियोग इत्यादि दूसरे साधनों में निष्ठा रखने वाले, उन २ साधनों को ही उपाय समझते हैं श्रीभगवान को नहीं। ऐसी स्थिति में यही निर्णय करना पड़ता है कि श्रीभगवान यदि किसी को मोक्ष देंगे तो सर्वप्रथम शरणागत को ही मोक्ष देंगे क्योंकि उसकी रक्षा करने का भार श्रीभगवान ने लिया है, शरणागत को मोक्ष देकर ही श्रीभगवान दूसरे साधकों को मोक्ष देंगे। इससे सिद्ध होता है कि शरणागति दूसरे साधनों से श्रेष्ठ है। इस प्रकार श्रेष्ठ गुणों से युक्त शरणागति का खण्डन करना तथा यह कहना कि शरणागति साक्षात् मोक्ष नहीं दे सकती, भक्तियोग के द्वारा ही मोक्ष देगी इत्यादि नितान्त अयुक्त है, शरणागति की महिमा को शास्त्रोक्तरीति से मानना चाहिये।

**हि तन्निष्ठोऽन्यनिष्ठान् कोटिकोटयंशतोऽतिशयितुं प्रभुः**—शरणा-गति में निष्ठा रखने वाला साधक भक्तियोग इत्यादि अन्यान्य उपायों में निष्ठा रखने वाले साधकों से कोटि २ अंशों में उत्कृष्ट होता है। यह अर्थ निम्नलिखित वचन में स्पष्ट रीति से कहा गया है।

सत्कर्मनिरताः शुद्धाः सांख्ययोगविदस्तथा।<br>
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमीमपि॥

अर्थात्—शुद्ध होकर सत्कर्म करने वाले कर्मयोगी, ज्ञानयोगी एवं भक्तियोगी साधक शरणागत की कोटितम (करोड़वी) कला को भी प्राप्त नहीं कर सकते। इसमें कारण यह है कि शरणागत श्रीभगवान को उपाय मानते हैं दूसरे लोग उन २ साधनों को उपाय मानते हैं। शरणागति में सबका अधिकार है, कर्मयोग आदि में त्रैवर्णिकों का ही अधिकार है। शरणागति में क्लेश नहीं, अन्यान्य साधनों में क्लेश है। शरणागति को बारम्बार करना नहीं पड़ता, अन्यान्य साधनों को बारम्बार करना पड़ता है, यहाँ तक कि शरीर छूटने तक उनकी आवृत्ति करनी पड़ती है। जब शरणागत चाहे तब शरणागति फल दे सकती है, दूसरे साधन विलम्ब से ही दे सकते हैं। शरणागति किसी से प्रतिबद्ध नहीं होती, दूसरे साधन प्रबल कर्मों से प्रतिबद्ध होते हैं। शरणागति दूसरे किसी साधन को सह नहीं सकती दूसरे साधनों के सहारा लिये बिना ही फल देती है, दूसरे साधन वैसे नहीं वे अनेक साधनों की, यहाँ तक कि शरणागति की भी सहायता लेकर ही फल दे सकते हैं। शरणागत उत्तरकाल में कैङ्कर्य समझकर भगवन्मुखोल्लास के लिये धर्माचरण करते रहते हैं, दूसरे साधक अपने साधनों का अंग समझकर धर्माचरण करते हैं, कैङ्कर्य समझकर नहीं, शरणागत का उत्तर जीवन नित्यमुक्तों के समान कैङ्कर्यमय है। दूसरे साधकों का जीवन मरणपर्यन्त साधनामय है, वे साधना से उठकर अपने जीवन में कैङ्कर्य नहीं कर सकते। इस प्रकार शरणागति एवं अन्यान्य साधनों में महान् अन्तर है। अतएव कहा गया है कि शरणागत अन्यान्य साधकों से कोटि २ अंशों में श्रेष्ठ है। इस प्रकार अगणित महिमाओं से युक्त शरणागति को मोक्ष का साक्षात् अर्थात् सीधा साधन मानना चाहिये ॥ ६ ॥

(१०)

**नाना शब्दादिभेदादिति तु कथयता सूत्रकारेण सम्यङ्**

**न्यासोपासे विभक्ते यजनहवनवच्छब्दभेदादभाक्तात् ।**
**आख्यारूपादिभेदः श्रुत इतरसमः किं च भिन्नोऽधिकारः**
**शीघ्रप्राप्त्यादिभिस्स्याज्जगुरिति च मधूपासनादौ व्यवस्थाम् ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने अनेक वचनों को प्रमाण रूप से उपस्थापित कर यह सिद्ध किया है कि न्यासविद्या अर्थात् शरणागति भी स्वतन्त्र रूप से मोक्ष देने वाली ब्रह्मविद्या है । यहाँ पर यह शङ्का होती है कि श्रीभाष्य में श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने भक्तियोग को ही मोक्ष का साधन कहा तथा गीताभाष्य में चरम-श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने द्वितीय योजना में शरणागति को भक्तियोग का अंग बतलाया । उन्होंने कहीं भी यह नहीं बतलाया कि शरणागति भी एक स्वतन्त्र मोक्ष साधन है । इसलिये यही निर्णय करना पड़ता है कि पूर्वश्लोक में उदाहृत वे शास्त्रीय वचन, भक्तियोग का अंग अर्थात् सहायक बनने वाली शरणागति की प्रशंसा करते हैं यह नहीं कि किसी स्वतन्त्र मोक्षसाधन शरणागति की प्रशंसा करते हों । ब्रह्मसूत्र तृतीयाध्याय तृतीयपाद में ( जो गुणोपसंहारपाद के नाम से प्रसिद्ध है ) जहाँ श्रीभाष्यकार स्वामी जी को शरणागति को स्वतन्त्र मोक्षसाधन ब्रह्मविद्या कहना चाहिये था वहाँ उन्होंने वैसा बिलकुल कहा ही नहीं । ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि शरणागति भी स्वतन्त्र मोक्षसाधन है, श्रीगीताभाष्य के अनुसार यही मानना उचित है कि शरणागति भक्तियोग का अंग है स्वतन्त्र मोक्षसाधन नहीं । इस शङ्का के उत्तर में **नाना शब्दादिभेदात्** यह श्लोक प्रवृत्त है । इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी भक्तियोग और शरणागति योग में भेद बतलाते हुए शरणागति योग के स्वतन्त्र मोक्षसाधनत्व को सिद्ध करते हैं—

**नाना शब्दादिभेदादिति तु कथयता सूत्रकारेण सम्यगभाक्ताच्छब्दभेदाद्यजनहवनवन्न्यासोपासे विभक्ते**—ब्रह्मसूत्रों में भी यह अर्थ

व्यक्त होता है कि न्यासविद्या अर्थात् शरणागति स्वतन्त्र मोक्षसाधन है। ब्रह्मसूत्रों में तृतीयाध्याय के तृतीयपाद में (जिसे गुणोपसंहारपाद कहते हैं) **नाना शब्दादिभेदात्** ऐसा एक सूत्र है। इस सूत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्रकार ने न्यासविद्या को स्वतन्त्र साधन माना है। इस सूत्र में जो विचार किया गया है वह इस प्रकार है। उपनिषदों में सद्विद्या, भूमविद्या, दहरविद्या, उपकोसलविद्या, शाण्डिल्यविद्या, वैश्वानरविद्या, आनन्दमयविद्या और अक्षरविद्या इत्यादि ब्रह्मविद्याओं का वर्णन है। इन विद्याओं के विषय में यह संशय उठता है कि ये विद्यायें एक हैं या भिन्न २ हैं। इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं इन सब विद्याओं को एक मानना चाहिये क्योंकि इन सब विद्याओं की उपास्य वस्तु तथा फल एक हैं। इन विद्याओं में ब्रह्म ही उपास्य है तथा ब्रह्मप्राप्ति ही फल है। इस प्रकार उपास्य रूप और फल एक होने के कारण इन विद्याओं को एक मानना चाहिये। यह पूर्वपक्ष है। इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर यह सिद्धान्त किया गया है कि इन सब विद्याओं को अलग २ स्वतन्त्र विद्या समझना चाहिये, इनको एक नहीं मानना चाहिये। इनमें भेद मानने के ही प्रमाण हैं। कर्म मीमांसा में शब्दान्तर अभ्यास, संख्या, गुण, प्रकरण और नामधेय से कर्मों में भेद सिद्ध किया गया है। उन्हीं प्रमाणों से ही इन विद्याओं में भी भेद सिद्ध होता है। ये सब विद्यायें भिन्न २ प्रकरणों में पढ़ी गई हैं, इसलिये प्रकरणान्तर होने के कारण इनमें भेद मानना उचित है। इन विद्याओं के नाम ही भिन्न २ हैं जैसे कि आरम्भ में कहे गये हैं। इसलिये नामधेय भेद के कारण इनमें भेद मानना उचित है। इन विद्याओं में उपास्य ब्रह्मगुण भिन्न २ हैं, इसलिये उपास्य रूप भिन्न होने के कारण भी इन बिद्याओं में भेद मानना युक्त है। इन विद्याओं में भेद साधने के लिये सूत्रकार ने **शब्दादिभेदात्** कहकर शब्दान्तर प्रमाण का स्पष्ट उल्लेख किया है। उसका समन्वय करने में विचार होता है कि इसका समन्वय कैसे किया जाय?

यद्यपि उपनिषदों में किसी विद्या का **वेद** शब्द से और किसी विद्या का **उपासीत** शब्द से विधान किया गया है तथापि **वेद** और **उपासीत** शब्दान्तर नहीं माने जा सकते क्योंकि ये दोनों शब्द सामान्यरूप एवं विशेषरूप से एक ही अर्थ के वाचक होने से एक प्रकार से पर्याय हैं। भिन्न २ अर्थों को बतलाने वाले शब्द ही शब्दान्तर माने जाते हैं **याग, होम** और **दान** शब्द भिन्न २ अर्थों को बतलाते हैं अतएव वे शब्दान्तर हैं, शब्दान्तर होने के कारण याग, होम और दान भिन्न २ कर्म माने जाते हैं। वैसा यहाँ नहीं है। यहाँ तो **वेद** और **उपासीत** इत्यादि शब्द सामान्य-विशेष-भाव से एक ही अर्थ को बतलाते हैं। इसलिये ये शब्दान्तर नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यहाँ **शब्दादिभेदात्** कहकर सूत्रकार शब्दान्तर प्रमाण के आधार पर इन विद्याओं में भेद को कैसे सिद्ध करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने श्रीभाष्यलघुसिद्धान्त में वेदन, ध्यान उपासन और दर्शन इत्यादि शब्दों का एक ही अर्थ में पर्यवसान किया है। उस सिद्धान्त के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ये सभी शब्द एक ही अर्थ के वाचक होने के कारण शब्दान्तर नहीं बन सकते हैं अतएव ये मुख्य शब्दान्तर नहीं है, यहाँ पर इनको जो शब्दान्तर कहा गया है, वह गौण भाव से कहा गया है। ये मुख्यरूप से शब्दान्तर न होने पर भी गौणरूप से शब्दान्तर माने जाते हैं। इन विद्याओं में उपास्यगुण भिन्न २ होने के कारण उन २ गुणों से युक्त परब्रह्म के विषय में होने वाले ध्यान भी भिन्न २ प्रकार के हैं। इन भिन्न २ ध्यानों को बतलाने वाले ये **वेदन** इत्यादि शब्द भी शब्दान्तर ही हैं, इस शब्दान्तर के कारण यहाँ पर विद्याओं में भेद सिद्ध किया गया है। अन्त में यही फलित होता है कि उपास्यगुणभेद के कारण यहाँ शब्दभेद माना जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ये गौणरूप से शब्दान्तर हैं। इस प्रकार गौण शब्दान्तर गुणभेद, नामधेयभेद और प्रकरणभेद से

उपर्युक्त विद्याओं में भेद सिद्ध किया गया है।

यहाँ पर यह शङ्का उठती है कि सूत्रकार ने यहाँ पर जिस शब्दान्तर प्रमाण का उल्लेख किया है क्या वह मुख्य कहीं भी नहीं मिल सकता? यदि मुख्य कहीं भी न मिले, तब गौण को लेना उचित होगा। इस शङ्का का समाधान यह है कि मुख्य शब्दान्तर भी मिलता ही है परन्तु जिन सद्विद्या इत्यादि विद्याओं का उल्लेख किया गया है उनमें शब्दान्तर गौण ही मानना होगा। मुख्य शब्दान्तरप्रमाण न्यासविद्या और उपासनाओं में संगत होता है। न्यासविद्या अर्थात् शरणागति दूसरी है तथा उपासना अर्थात् भक्तियोग दूसरा है। ये दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं, इनमें एकता नहीं है। भक्तियोग उपासन, वेदन, ध्यान, ध्रुवास्मृति और दर्शन इत्यादि शब्दों से बतलाया जाता है। अतएव ये शब्द पर्याय माने जाते हैं। वैसे ही न्यासविद्या अर्थात् शरणागति न्यास, शरणागति, प्रपत्ति त्याग और आत्मनिक्षेप इत्यादि शब्दों से बतलायी जाती है। अतएव ये शब्द पर्याय माने जाते हैं। उपासन इत्यादि शब्द और न्यास इत्यादि शब्द परस्पर पर्याय न होने के कारण शब्दान्तर हैं क्योंकि इनके प्रतिपाद्य अर्थ सर्वथा भिन्न हैं। उपासन और न्यासविद्या में भेद मुख्य शब्दान्तरप्रमाण से सिद्ध होता है। यहाँ **शब्दादिभेदात्** कहकर सर्वप्रथम शब्दान्तरप्रमाण को उपस्थापित करने वाले सूत्रकार का अभिप्राय मुख्य शब्दान्तर के विषय में ही होना चाहिये। मुख्य न मिलने पर ही गौण लेना उचित है। मुख्य शब्दान्तर के आधार पर न्यास और उपासन में भेद सिद्ध किया जा सकता है। इसलिये यहाँ यह मानना अत्यन्त उपयुक्त होगा कि **शब्दादिभेदात्** कहकर सूत्रकार ने मुख्य शब्दान्तरप्रमाण के आधार पर न्यास और उपासन में भेद सिद्ध किया है। अगले विकल्पाधिकरण में एक मोक्षफल देने वाले होने के कारण इनमें विकल्प माना है। इससे फलित होता है कि न्यासविद्या स्वतन्त्र मोक्षोपाय है।

**आख्यारूपादिभेदः इतरसमः श्रुतः**—भक्तियोग नाम से प्रसिद्ध अन्यान्य विद्याओं तथा शरणागति नाम से प्रसिद्ध न्यासविद्या में भेद न केवल शब्दान्तर प्रमाण से ही सिद्ध होता है किन्तु अन्यान्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। वे प्रमाण ये हैं। (१) आख्याभेद है। जिस प्रकार सद्विद्या और दहरविद्या इत्यादि भिन्न २ नाम पड़ने के कारण अन्यान्य विद्यायें भिन्न मानी गई हैं उसी प्रकार **न्यासविद्या** ऐसा पृथक् नाम होने के कारण न्यासविद्या को भी उनसे भिन्न मानना चाहिये। (२) दूसरा प्रमाण रूपभेद है, जिस प्रकार अन्यान्य विद्याओं में उपास्यगुण भिन्न होने के कारण भेद होता है, उसी प्रकार न्यासविद्या में भी अनुसन्धेयगुण भिन्न होने के कारण भेद मानना चाहिये। न्यासविद्या में श्रीभगवान के उपायत्वगुण का अनुसन्धान होता है। न्यासविद्या में यही समझा जाता है कि श्रीभगवान उपाय हैं अर्थात् दूसरे किसी साधन की अपेक्षा किये बिना ही रक्षा करने वाले हैं। न्यासविद्या में उपाय के रूप में अर्थात् निरपेक्ष रक्षक के रूप में श्रीभगवान का अनुसन्धान किया जाता है। इस प्रकार रूपभेद के कारण न्यासविद्या में भेद सिद्ध होता है। (३) तीसरा प्रमाण परिकरभेद है। भक्तियोग के परिकर अर्थात् अंग वर्णाश्रमधर्म और शम, दम इत्यादि हैं। न्यासविद्या के अंग आनुकूल्य संकल्प इत्यादि हैं। इस प्रकार परिकरभेद होने के कारण न्यासविद्या में अन्यान्य विद्याओं से भेद सिद्ध होता है। (४) चतुर्थ प्रमाण प्रकरणभेद है। अन्यान्य विद्यायें अन्यान्य प्रकरणों में पठित हैं, वैसे ही न्यासविद्या भी दूसरे प्रकरण में पठित है। इस प्रकार प्रकरणभेद के कारण न्यासविद्या में भेद सिद्ध होता है। अन्यान्य विद्याओं के समान न्यासविद्या में भी नामभेद, रूपभेद, परिकरभेद और प्रकरणभेद के कारण भेद मानना न्यायप्राप्त है।

**किं च अधिकारो भिन्नः**—किं च, उपासन में शक्त का अधिकार माना जाता है, शरणागति में अशक्त का अधिकार माना जाता है।

भाव यह है कि शक्त साधक उपासन का अधिकारी है, अशक्त साधक शरणागति का अधिकारी है, अधिकार भिन्न होने से भी उपासन और शरणागति में भेद सिद्ध होता है।

**शीघ्रप्राप्त्यादिभिः स्यात्**—किं च, यहाँ पर अधिकार भेद इस प्रकार भी सिद्ध होता है कि जो साधक पूरे प्रारब्ध भोगने के बाद मोक्ष चाहते हैं उनको उपासन करने का अधिकार है। जो साधक प्रारब्ध को भी नष्ट कर शीघ्र मोक्ष चाहते हैं, उनका शरणागति में अधिकार है। इस प्रकार अधिकारभेद होने से उपासन और शरणागति में भेद सिद्ध होता है।

**इति च मधूपासनादौ व्यवस्थां जगुः**—इससे यह व्यवस्था फलित होती है कि विलम्ब से मोक्ष चाहने वाले उपासन के अधिकारी हैं शीघ्र मोक्ष चाहने वाले शरणागति के अधिकारी हैं। मधुविद्या में यह व्यवस्था मानी जाती है कि जो साधक वसु इत्यादि पदों को प्राप्त करने के बाद परब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हैं, वे मधुविद्या के अधिकारी हैं। उसी प्रकार ही प्रकृत में समझना चाहिये। इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि उपासन और शरणागति भिन्न हैं। उपासन के समान शरणागति भी एक स्वतन्त्र मोक्षसाधन है। जिस प्रकार ओंकार अन्यान्य मन्त्रों का अंग बनता है तथा स्वतन्त्र मन्त्र भी बनता है क्योंकि दूसरे मन्त्रों के साथ भी ओंकार का उच्चारण होता है और स्वतन्त्र रूप से केवल ओंकार का भी मन्त्र रूप से उच्चारण होता है, उसी प्रकार शरणागति भक्तियोग का अंग भी बनती है तथा स्वतन्त्र मोक्षसाधन भी बनती है क्योंकि शरणागति भक्तियोग की सहायता करती है, इसलिये भक्ति का अंग कहलाती है तथा अकिंचन साधकों के लिये स्वतन्त्र साधन बनकर स्वयं मोक्ष देती है इसलिये स्वतन्त्रोपाय भी कहलाती है। इसलिये शरणागति को भक्ति का अंग बतलाने वाले गीताभाष्य तथा शरणागति को स्वतन्त्र साधन के रूप में वर्णन करने वाले

गद्यत्रय में भी विरोध नहीं होता क्योंकि शरणागति में दोनों रूप माने जाते हैं ।।१०।।

(११)

**यत्किञ्चिद्रक्षणीयं तदवननिपुणे न्यस्यतोऽकिञ्चनस्य**
**प्रस्पष्टं लोकदृष्टयाऽप्यवगमित इह प्रार्थनाद्यङ्गयोगः ।**
**तस्मात् कर्माङ्गकत्वं व्यपनयति परापेक्षणाभाववादः**
**सांगे त्वष्टाङ्गयोगव्यवहृतिनियतः षड्विधत्वोपचारः ।।**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र के आधार पर शरणागति को स्वतन्त्र साधन सिद्ध कर उसको भक्तियोग का अंग मात्र मानने वालों के मत का खण्डन किया है। इस श्लोक में शरणागति को अंगहीन मानने वालों के मत का खण्डन करते हैं। वे लोग कहते हैं कि शरणागति स्वतन्त्र मोक्षसाधन भले हो परन्तु वह किसी अंग की अपेक्षा नहीं करती है। इस वाद का निराकरण करते हुए श्रीदेशिक स्वामी जी इस श्लोक से यह सिद्ध करते हैं कि शरणागति भी अपने अङ्गों की अपेक्षा रखती है—

**यत्किञ्चिद्रक्षणीयं तदवननिपुणे न्यस्यतोऽकिञ्चनस्य इह प्रार्थनाद्यङ्गयोगः प्रस्पष्टं लोकदृष्टयाऽप्यवगमितः**—लोक में यह अर्थ स्पष्ट देखा जाता है कि एक मनुष्य एक महार्घ वस्तु की रक्षा करना चाहता है परन्तु रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाता है तथा साथ ही साथ समझता है कि अमुक महापुरुष इसकी रक्षा कर सकते हैं। उन महानुभाव के साथ पूर्वकाल में विरोध हो भी गया हो तो भी उस वस्तु की रक्षा में लालायित वह असमर्थ पुरुष उन महानुभाव के समीप जाता है, रक्षा करने के लिये उस वस्तु को उनके हाथ में सौंप देता है, सौंपता हुआ यह कहता है कि महाराज ! आज से मैं आपके अनुकूल होकर रहूँगा, कभी प्रतिकूल व्यवहार नहीं करूंगा, मैं इस अमूल्य वस्तु की रक्षा करने में सर्वथा

असमर्थ हूँ, मुझको सुदृढ़ विश्वास है कि आप इसकी अच्छी तरह से रक्षा कर सकते हैं, आप कृपा कर रक्षक बन जाइये। इस प्रकार प्रार्थना करके वह उस वस्तु को उन महानुभाव के हाथ में सौंप देता है। यदि वह इस प्रकार प्रार्थना न करके केवल सौंपना चाहे तो संभव है कि वे महानुभाव रक्षा करने के लिये उस वस्तु को न लें क्योंकि प्राचीन विरोध भाव बना हुआ है। उपर्युक्त रीति से प्रार्थना करने पर वे महानुभाव जान लेते हैं कि इसका भाव बदल गया है, अब यह पहिले की तरह शत्रु बनकर नहीं रहेगा। इस प्रकार उसके सद्भाव को जानकर वे महानुभाव उस वस्तु को लेते हुये कहते हैं कि हम इसकी अच्छी तरह से रक्षा करेंगे, तुम चिन्ता मत करो इत्यादि। यहाँ पर "मैं आपका अनुकूल होकर रहूँगा" यह संकल्प आनुकूल्यसंकल्प कहलाता है। "मैं कभी प्रतिकूल व्यवहार न करूँगा" यह संकल्प प्रातिकूल्यवर्जन कहलाता है। "मैं इस अमूल्य वस्तु की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ" यह निवेदन कार्पण्य कहलाता है। "हमको सुदृढ़ विश्वास है कि आप इसकी अच्छी तरह से रक्षा कर सकते हैं" यह निवेदन महाविश्वास कहा जाता है। "आप कृपा कर रक्षक बन जाइये" यह प्रार्थना गोप्तृत्व-वरण कहलाती है। आगे वस्तु को सौंपना ही समर्पण है, न्यास है। उपर्युक्त लोक व्यवहार को देखने पर यह अच्छी तरह से विदित हो जाता है कि रक्षा करने में असमर्थ तथा रक्षा चाहने वाले पुरुष को, उस रक्ष्य वस्तु को, रक्षा करने में समर्थ किसी महानुभाव के यहाँ सौंपते समय प्रार्थना इत्यादि पाँचों अर्थों का निवेदन करना चाहिये, तभी उस वस्तु की रक्षा होगी, अन्यथा नहीं।

श्रीभगवच्छरणागति में भी इस मर्म को समझना चाहिये। जीव अनादिकाल से श्रीभगवान की आज्ञा का उल्लंघन करता हुआ अनेकविध पापों का भण्डार बन गया है। यह जीव आचार्य के अनुग्रह से समझने लगा है कि जीव की आत्यन्तिक रक्षा मोक्ष-प्राप्ति में ही है, अन्यत्र नहीं। जीव अपनी रक्षा चाहता है, साथ

ही रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाता है और समझता है कि एकमात्र श्रीभगवान ही इसकी रक्षा कर सकते हैं, हम नहीं कर सकते। हमको इस आत्मवस्तु को, रक्षा करने के लिये श्रीभगवान के यहाँ सौंप देना चाहिये। सौंपते समय अपराधी जीव को अपने भावपरिवर्तन का निवेदन करना चाहिये। श्रीभगवान के सम्मुख यह निवेदन करना चाहिये कि "हे श्रीभगवन्! मैं आज से आपका अनुकूल होकर रहूँगा, कभी प्रतिकूल न होऊँगा, मैं अपनी आत्मा की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, मुझे सुदृढ़ विश्वास है कि आप इसको अच्छी तरह से रक्षा कर सकते हैं, मैं प्रार्थना करता हूँ आप कृपया रक्षक बन जाइये।" इस प्रकार निवेदन कर जीव को अपने आत्मस्वरूप को श्रीभगवान के यहाँ समर्पित कर देना चाहिये। इस निवेदन में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँचों अंग निहित हैं। इन पाँचों अंगों के साथ आत्मसमर्पण करने पर ही श्रीभगवान ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि श्रीभगवच्छरणागति में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँचों अंगों की आवश्यकता है। शरणागति इनकी अपेक्षा रखती है।

**तस्मात् परापेक्षणाभाववादः कर्माङ्गत्वं व्यपनयति**—यहाँ पर यह शंका उठती है कि यदि शरणागति उपर्युक्त पाँचों अंगों की अपेक्षा रखती है तो शास्त्र में यह कैसे कहा गया कि **प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं परापेक्षा न विद्यते** अर्थात् शरणागति कहीं भी दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं रखती? इस शंका का समाधान यह है कि शरणागति उन पाँचों अंगों की तो अपेक्षा अवश्य रखती है, इसका खण्डन करने के लिये **प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं** इत्यादि वचन प्रवृत्त नहीं हैं। किन्तु इस वचन का भाव यही है कि जिस प्रकार अन्यान्य ब्रह्मविद्यायें वर्णाश्रमधर्म, यज्ञ, दान और तपस्या इत्यादि कर्मों की अपेक्षा रखती हैं, उस प्रकार उन कर्मों की अपेक्षा शरणागति नहीं रखती। अन्यान्य विद्याओं में कर्म की अपेक्षा को देखकर यदि कोई शरणागति के विषय में भी यह सन्देह करे कि शरणागति को भी

कर्म की आवश्यकता होगी तो उस प्रसंग में यह वचन बतलाता है कि शरणागति को दूसरे किसी की आवश्यकता नहीं अर्थात् दूसरे किसी कर्म की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार यह वचन शरणागति में कर्म की अपेक्षा का खण्डन करने के लिये ही प्रवृत्त है, आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँचों अंगों की आवश्यकता का खण्डन करने के लिये नहीं। इस प्रकार विषयविभाग मानने पर ही **प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं** इस वचन का उन वचनों के साथ मेल हो सकता है जो शरणागति में उन पाँचों अंगों की आवश्यकता बतलाते हैं। वे वचन ये हैं—(१) **न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः** अर्थात् शरणागति पाँचों अंगों से युक्त है। (२) **प्रपत्तिं तां प्रयुञ्जीत स्वांगैः पञ्चभिरावृताम्** अर्थात् अपने पाँचों अंगों से युक्त शरणागति का अनुष्ठान करें। इन वचनों से शरणागति में पाँचों अंगों की आवश्यकता सिद्ध होती है। यह आवश्यकता उपर्युक्त लोक व्यवहार को देखने पर भी सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति में **प्रपत्तेः क्वचिद-प्येवं परापेक्षा न विद्यते** इस वचन का यही अर्थ करना चाहिये कि शरणागति उन कर्मों की—जो दूसरी विद्याओं के लिये अंग माने जाते हैं—सर्वथा आवश्यकता नहीं रखती। जिस प्रकार ब्रह्मास्त्र दूसरे किसी की अपेक्षा न रखने पर भी मन्त्रोच्चारण इत्यादि अपने अंगों की अपेक्षा रखता है, वैसे ही ब्रह्मास्त्र के समान प्रभाव-युक्त शरणागति भी कर्म की अपेक्षा न रखने पर भी अपने अंगों की अपेक्षा रखती है।

**सांगे त्वष्टाङ्गयोगव्यवहृतिनयतः षड्विधत्वोपचारः**—यह श्लोक-खण्ड एक शङ्का का समाधान करने के लिये प्रवृत्त है। यहाँ पर कहा गया है कि शरणागति में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँच अंग हैं, न्यास (समर्पण) अंगी है अर्थात् प्रधान है। पाँचों अंगों से समर्पण को सहायता मिलती है, इनसे सहायता लेकर न्यास मोक्षसाधन बनता है। सहायक अग कहलाता है, फलसाधन अंगी एवं प्रधान कहलाता है। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि शरणागति

में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँचों को अंग तथा समर्पण को अंगी मानना उचित नहीं किन्तु इन पाँचों को समप्रधान मानना ही उचित है। अङ्गाङ्गिभाव मानने पर यह फलित होता है कि आनुकूल्य-संकल्प इत्यादि पाँचों न्यास की सहायता भर करते हैं स्वयं फल-साधन नहीं बनते, न्यास ही इनसे सहायता लेकर स्वयं फलसाधन बनता है। समप्रधान मानने पर यह फलित होता है कि ये छओं मिलकर फल देते हैं, इनमें एक की प्रधानता दूसरों की अप्रधानता नहीं है, सभी समान कोटि के हैं। जिस प्रकार दर्श, पूर्ण नाम से कहे जाने वाले आग्नेय इत्यादि छः याग मिलकर एक स्वर्ग को साधते हैं, उसी प्रकार आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि छः पदार्थ मिलकर मोक्ष देते हैं, ऐसा प्रकृत में मानना चाहिये। इन छओं को सम-प्रधान रूप में बतलाने वाला वचन मिलता है। वह यह है कि—

**आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।**
**रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।**
**आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥**

अर्थात्—आनुकूल्यसंकल्प, प्रातिकूल्य का त्याग, श्रीभगवान रक्षा करेंगे ऐसा सुदृढ़ विश्वास, रक्षक बनने के लिये श्रीभगवान से प्रार्थना करना, अशक्ति का निवेदन और आत्मसमर्पण इस प्रकार छः प्रकार की शरणागति होती है। इस वचन में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि छः अर्थ शरणागति के समान कोटि के प्रकार माने गये हैं। इनमें अङ्गाङ्गिभाव नहीं मानना चाहिये, मानने पर इनमें से एक के अंगी और दूसरों अङ्ग बन जाने से विषमता आ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि इनमें अङ्गाङ्गिभाव उचित नहीं। यह शङ्का है। इस शङ्का का समाधान इस श्लोकखण्ड में कहा गया है। वह इस प्रकार है कि **न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः** इत्यादि उपर्युक्त वचनों के अनुसार इनमें अङ्गाङ्गिभाव अवश्य मानना ही चाहिये। आवश्य-कता की दृष्टि से ये छओं समान हैं, ये छः भी अत्यावश्यक हैं।

अतएव **षड्विधा शरणागतिः** कहकर इन छओं का समान रूप से वर्णन किया गया है। इससे इनके अङ्गाङ्गिभाव का खण्डन नहीं होता। जिस प्रकार अष्टाङ्गयोग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इन सात अंगों तथा समाधि अंगी को भी लेकर अष्टाङ्गयोग कहा जाता है, उससे उनके अङ्गाङ्गि-भाव में बाधा नहीं पड़ती उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये कि **षड्विधा शरणागतिः** कहकर इन छओं का आवश्यकता की दृष्टि से समान रूप से वर्णन मिलने पर भी इनमें अङ्गाङ्गिभाव मानने में कोई बाधा नहीं है। आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि न्यास के अंग हैं, न्यास अंगी है ॥११॥

(१२)

**पञ्चाप्यङ्गान्यभिज्ञाः प्रणिजगुरविनाभावभाञ्जि प्रपत्तेः**
**कैश्चित् संभावितत्वं यदिह निगदितं तत्प्रपत्त्युत्तरं स्यात् ।**
**अंगेष्वङ्गित्ववादः फलकथनमथ द्वित्रिमात्रोक्तयश्च**
**प्राशस्त्यं तत्र तत्र प्रणिदधति ततः सर्ववाक्यैककण्ठचम् ॥**

पूर्वश्लोक में वर्णित अङ्गाङ्गिभाव का वर्णन करते हुये श्रीदेशिक स्वामी जी इन अंग और अंगी के विषय में प्रवृत्त नाना प्रकार के वचनों का समन्वय इस श्लोक में करते हैं—

**अभिज्ञाः पञ्चाप्यङ्गानि प्रपत्तेरविनाभावभाञ्जि प्रणिजगुः—** श्रीमान् वात्स्य वरदाचार्य स्वामी जी तथा आत्रेय रामानुजाचार्य स्वामो जी इत्यादि धुरन्धर विद्वानों ने पूर्वश्लोक में वर्णित लोक-व्यवहार और **न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः** इत्यादि शास्त्र वचनों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है कि आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँचों अंग शरणागति के लिये अत्यावश्यक अंग हैं, इनके विना शरणागति सध ही नहीं सकती। जिस प्रकार पूर्वश्लोक में वर्णित रीति के अनुसार रक्षा करने के लिये किसी वस्तु को किसी के पास सौंपते

समय आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँचों अंगों की अत्यावश्यकता है, उसी प्रकार रक्षा करने के लिये आत्मवस्तु को श्रीभगवान के यहाँ समर्पित करते समय भी आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँचों अंगों की अत्यावश्यकता है। इस आवश्यकता को मन में रखकर ही शास्त्र में कहा गया है कि **प्रपत्तिं तां प्रयुञ्जीत स्वांगैः पञ्चभिरावृताम्** अर्थात् अपने पाँचों अंगों से युक्त शरणागति का अनुष्ठान करें। इससे सिद्ध होता है कि शरणागत में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि अवश्य हुआ करते हैं।

**इह कैश्चित् यत् संभावितत्वं कथितं तत्प्रपत्त्युत्तरं स्यात्**— यहाँ पर यह शङ्का होती है कि यदि शरणागत में इन पाँचों अङ्गों की अत्यावश्यकता है और यदि असली शरणागत में ये पाँचों अंग अवश्य हुआ करते हैं तो कई आचार्य इसके विरुद्ध कैसे कहते रहते हैं। कई आचार्यों की यह स्पष्ट घोषणा है कि सभी शरणागतों में ये पाँचों अवश्य होते हों सो बात नहीं, यही देखने में आया है कि कई शरणागतों में ये पाँचों अर्थ पाये जाते हैं, कइयों में नहीं। इससे यही मानना चाहिये जिस प्रकार धान कूटने वालों में कइयों को पसीना आता है कइयों को नहीं आता है, उसी प्रकार शरणागतों में कइयों में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि होते हैं कइयों में नहीं होते जिस प्रकार स्वेद, धान्य कूटने वालों में संभावित है अर्थात् हो सकता है, नियत नहीं है। उसी प्रकार ये पाँचों अंग भी शरणागतों में संभावित हैं, नियत नहीं हैं। ऐसा कई आचार्यों का मत है। इसका समन्वय कैसे किया जाय ? इस शङ्का के समाधान में श्रीदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि इन मतों में विरोध को शान्त कर इनका समन्वय किया जा सकता है। वह इस प्रकार है कि शरणागति में इन पाँचों अंगों की अत्यावश्यकता को बतलाने वाले आचार्यों का यह भाव है कि शरणागति करते समय इन पाँचों अंगों की अत्यावश्यकता है, इनके विना शरणागति सध ही नहीं सकती। इनका यह भाव नहीं कि शरणागति हो जाने के बाद

भी सभी शरणागतों में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि अवश्य बने ही रहते हैं। आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि अर्थों को जो आचार्य संभावित स्वभाव मानते हैं उनका यही भाव है कि शरणागति हो जाने के बाद भी कई शरणागतों में ये पाये जाते हैं, कइयों में नहीं। इसलिये ये संभावित स्वभाव हैं। उन आचार्यों का यह भाव नहीं है कि शरणागति करते समय भी इनकी आवश्यकता नहीं। तत्वार्थ यह है कि शरणागति करते समय इन अंगों की अत्यावश्यकता है, शरणागति हो जाने के बाद इनको वैसी आवश्यकता नहीं। शरणागति हो जाने के बाद आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि न रहने पर भी कोई क्षति नहीं है, की हुई शरणागति अवश्य फल देगी। उत्तर-काल में भी आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि रहें तो वह अच्छी बात है, न रहने पर भयभीत न होना चाहिये। अनुष्ठित शरणागति अवश्य फल देगी। उत्तरकाल में प्रतिकूलाचरण होने पर शास्त्र में **अपायसंप्लवे सद्यः प्रायश्चित्तं समाचरेत्** इस प्रकार प्रायश्चित का ही वर्णन मिलता है, कहीं पर भी शरणागति की च्युति का वर्णन नहीं मिलता। इससे शरणागति काल में आनुकूल्यसंकल्प आदि की आवश्यकता और उत्तरकाल में वैसी आवश्यकता का अभाव ही सिद्ध होता है। इस अर्थ को मानने पर दोनों प्रकार के आचार्यों के वचनों का समन्वय हो जाता है।

**अंगेष्वङ्गित्ववादः फलकथनमथ द्वित्रिमात्रोक्तयश्च तत्र तत्र प्राशस्त्यं प्रणिदधति ततः सर्ववाक्यैककण्ठ्यम्**—श्लोक का यह अर्थ कई शङ्काओं का समाधान करने के लिये कहा गया है। वे शङ्कायें ये हैं। (१) सिद्धान्त में महाविश्वास प्रपत्ति का अंग माना जाता है तथा प्रपत्ति अंगी मानी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि महाविश्वास और प्रपत्ति में भेद है। महाविश्वास अग है, प्रपत्ति अंगी है। ऐसी स्थिति में उस वचन का कैसे समन्वय किया जाय जो विश्वास को ही प्रपत्ति अर्थात् अंगी बतलाता है। वह वचन यह है कि—

**नारायणं सलक्ष्मीकं प्राप्तुं तच्चरणद्वयम् ।**
**उपाय इति विश्वासः प्रपत्तिः शरणागतिः ।।**

अर्थात्—लक्ष्मीसमेत श्रीमन्नारायण भगवान को प्राप्त करने के लिये "उनका श्रीचरणद्वन्द्व ही उपाय है" ऐसा विश्वास रखना ही प्रपत्ति है अर्थात् शरणागति है। इस वचन में अंग विश्वास को ही अंगी प्रपत्ति कहा गया है। इस वचन का समन्वय कैसे किया जाय? यह एक शङ्का है।

(२) दूसरी शङ्का यह है कि सिद्धान्त में, रक्षक बनने के लिये श्रीभगवान से प्रार्थना करना गोप्तृत्ववरण कहलाता है। यह गोप्तृत्ववरण प्रपत्ति का अंग तथा प्रपत्ति अंगी मानी जाती है। इससे इनमें भेद सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि सिद्धान्त में उन वचनों को कैसे लगाया जाय जो प्रार्थना को ही शरणागति बतलाते हैं। वे वचन ये हैं कि—

**अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् ।**
**तदेकोपायतायाञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः ।।**

अर्थात्—अपना अभीष्ट दूसरे किसी प्रकार से साध्य न होने पर समर्थ एवं दयालु पुरुष के समीप पहुंचकर उनसे उपाय बनने के लिये प्रार्थना करना ही प्रपत्ति है शरणागति है।

**त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना मतिः ।**
**शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ।।**

अर्थात्—आप ही उपाय बन जाइये, इस प्रकार प्रार्थना करना ही शरणागति है, यह शरणागति श्रीभगवान के विषय में की जाय। इन दोनों वचनों से प्रार्थना को ही शरणागति कहा जाता है। इन वचनों का कैसे समन्वय किया जाय? यह दूसरी शंका है।

(३) तीसरी शङ्का यह है कि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अंगी ही फलप्रद है, अंग फलप्रद नहीं। शास्त्र में अनेक प्रकरणों में

महाविश्वास और प्रार्थना इत्यादि अंगों को भी फलप्रद कहा गया है, उसका समन्वय कैसे किया जाय ? यह तीसरी शङ्का है।

(४) चतुर्थ शङ्का यह है कि शरणागति में पाँच अंग होते हुए भी शास्त्र में कहीं दो अंग और कहीं तीन अंग क्यों कहे गये हैं ?

इन सब शंकाओं का एक ही समाधान है। वह यह है कि उन उन अंगों की प्रशंसा करने के लिये ऐसी ऐसी बातें कही गई हैं। जो वचन विश्वास को शरणागति बतलाता है अर्थात् अंग को अंगी के रूप में बतलाता है उस वचन का विश्वास की प्रशंसा करने में तात्पर्य है क्योंकि विश्वास इन अंगों में प्रधान बन सकता है। विश्वास दोनों प्रकार से उपकार करता है (१) विश्वास ही साधक को शरणागति का अधिकारी बनाता है क्योंकि श्रीभगवान में विश्वास रखने वाला साधक ही शरणागति में उतर सकता है। (२) विश्वास अङ्ग बनकर शरणागति की सहायता करता है। ऐसा दूसरे अङ्ग नहीं करते। इस प्राधान्य को व्यक्त करने के लिये ही विश्वास को शरणागति कहा गया है। विश्वास की प्रशंसा करना ही वहाँ अभिप्रेत है। वैसे ही प्रार्थना को शरणागति बतलाने वाले वचनों का भी प्रार्थना की प्रशंसा में ही तात्पर्य है। शरणागति में प्रार्थना का भी महत्व है। श्रीभगवान प्रार्थना भर की प्रतीक्षा करते हैं, प्रार्थना सुनते ही श्रीभगवान जीव का कार्य करने लगते हैं। शास्त्र कहता है कि—

**सर्वज्ञोऽपि च विश्वेशः सदा कारुणिकोऽपि सन् ।**
**संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षां प्रतीक्षते ॥**

अर्थात्—श्रीभगवान सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सदा दयालु होते हुये भी निर्दोष बनकर संसारचालक होने के कारण इतनी प्रतीक्षा करते हैं कि जीव रक्षा के लिये प्रार्थना करें। श्रीभगवान उस प्रार्थना को निमित्त बनाकर जीव की रक्षा करते हैं। प्रार्थना के इस महत्व को व्यक्त करने के लिये ही प्रार्थना को शरणागति

कहकर प्रशंसा की गई है। जहाँ जिन अंगों का फल कहा गया है वहाँ उन अंगों की प्रशंसा करने में ही तात्पर्य है। जहाँ दो तीन अंग ही पढ़े गये हैं वहाँ भी उन अङ्गों की प्रशंसा करने में ही तात्पर्य है। जिस प्रकार दस बीस विद्वानों में दो तोन का नाम लेना उनकी प्रशंसा में तात्पर्य रखता है। इस प्रकार उन सर्व वचनों का समन्वय हो जाता है जो आरम्भ में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं ॥१२॥

(१३)

**रक्षापेक्षा स्वसाह्यप्रणयवति भरन्यास आज्ञादिदक्षे**
**दृष्टा नात्र प्रपत्तिव्यवहृतिरिति तन्मेलने लक्षणं स्यात् ।**
**गेहागत्यादिमात्रे निपततु शरणागत्यभिख्योपचाराद्**
**यद्वा नैकार्यभावाद्भवति हि विविधः पालनीयत्वहेतुः ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले वचनों का समन्वय करके यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि शरणागति में पाँच अङ्ग अत्यावश्यक हैं तथा समर्पण अङ्गी है। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामो जी शरणागति का लक्षण बतलाते हैं—

**स्वसाह्यप्रणयवति रक्षापेक्षा आज्ञादिदक्षे भरन्यासः अत्र प्रपत्तिव्यवहृतिर्न दृष्टा इह तन्मेलने लक्षणं स्यात्**—शरणागति का ऐसा लक्षण होना चाहिये जो सर्वत्र शरणागति में संगत हो सके। लोक में जहाँ २ शरणागति का व्यवहार होता है, वहाँ २ सर्वत्र वह लक्षण बना रहे, शरणागति का एवंविध लक्षण कौनसा हो सकता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीनों दोषों से रहित हो। शरणागति का लक्षण करते हुये कई विद्वानों ने कहा है कि रक्षा करने के लिये प्रार्थना करना ही शरणागति है। इस कथन के अनुसार यही फलित होता है कि रक्षापेक्षा शरणागति का लक्षण

है। परन्तु यह लक्षण समीचीन नहीं क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति दोष है। भाव यह है कि लोक में जहाँ शरणागति का व्यवहार नहीं, अतएव जो लक्ष्य नहीं हैं, वहाँ पर भी यह लक्षण पहुंच जाता है। उदाहरण—एक मनुष्य दूसरे के समीप पहुंच कर कहता है कि मैं आपत्ति में फँसा हूँ, स्वयं अपनी रक्षा करना चाहता हूँ, आप भी इसमें थोड़ी मदद कीजिये, रक्षा के कार्य में आप भी थोड़ा भाग लीजिये, मुझसे जो बन सकेगा सो तो करूँगा ही। इस कथन से व्यक्त होता है कि वह मनुष्य दूसरे की सहायता लेकर अपनी रक्षा करना चाहता है। वह दूसरे से प्रार्थना करता है कि मेरी रक्षा में आप भाग लीजिये। इससे व्यक्त होता है कि वहाँ रक्षापेक्षा है अर्थात् शरणागति का लक्षण है। परन्तु वह लक्ष्य नहीं है अर्थात् शरणागति नहीं है क्योंकि लोक में यहाँ पर शरणागति का व्यवहार नहीं होता है। लोक में शरणागति का व्यवहार वहीं पर होता है जहाँ प्रार्थी मनुष्य अपनी रक्षा का भार दूसरे पर सौंपते हुए कहता है कि मैं अपनी रक्षा नहीं कर सकता, आप ही मेरी रक्षा का भार अपने ऊपर लीजिये। उदाहृतस्थल में तो रक्षाभार का समर्पण नहीं है। अतएव यह स्थल अलक्ष्य है अर्थात् शरणागति नहीं है, यहाँ पर भी रक्षापेक्षा रूपी लक्षण होने के कारण इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। इसलिये यह लक्षण ठीक नहीं है।

दूसरे विद्वान् शरणागति का लक्षण करते हुए कहते हैं कि दूसरों पर अपने कर्तव्यभार को सौंपना ही शरणागति है। इससे सिद्ध होता है कि भारसमर्पण शरणागति का लक्षण है। परन्तु यह लक्षण भी समीचीन नहीं क्योंकि इस लक्षण में भी अति-व्याप्ति दोष आ जाता है। उदाहरण—स्वामी आज्ञा देते हुये भृत्यों से कहता है कि यह सब मेरा कर्तव्य है, इस समय मैं इसे करना नहीं चाहता, तुम लोग मेरे कर्तव्य को सँभालो। धनिक वेतन देकर दूसरों से कहता है आप लोग मेरे इन कर्तव्यों को सँभालें। यहाँ

पर स्वामी और धनिक अपने कर्तव्यभार को दूसरों पर सौंपते हैं। यहाँ पर भारसमर्पण लक्षण संगत हो जाता है। परन्तु लोग इसे शरणागति नहीं कहते क्योंकि यहाँ स्वामी और धनिक भृत्यों से प्रार्थना नहीं करते हैं। जहाँ प्रार्थना के साथ भारसमर्पण हो वहीं शरणागति का व्यवहार होता है। यहाँ तो केवल भारसमर्पण है, इसे लोग शरणागति नहीं कहते हैं। यह अलक्ष्य है, यहाँ पर भी भरन्यास लक्षण विद्यमान है। इसलिये इस लक्षण में भी अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। यह लक्षण भी समीचीन नहीं है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि तब शरणागति का समीचीन लक्षण क्या होना चाहिये। इस प्रश्न के उत्तर में श्रीदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि **तन्मेलने लक्षणं स्यात्** भाव यह है कि केवल रक्षापेक्षा शरणागति का लक्षण नहीं है तथा केवल भरन्यास भी शरणागति का लक्षण नहीं है किन्तु दोनों मिलकर लक्षण है। प्रार्थना के साथ भारसमर्पण करना ही शरणागति है। यही निर्दुष्ट लक्षण है। जहाँ असमर्थ पुरुष समर्थ महानुभाव के समीप पहुंचकर विनम्र भाव से प्रार्थना करता हुआ अपने रक्षाभार को पूर्ण रूप से समर्थ के यहाँ सौंपे, लोक में उसी प्रसंग में ही शरणागति का व्यवहार होता है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि प्रार्थनापूर्वक भारसमर्पण ही शरणागति है। यही निर्दुष्ट लक्षण है।

**गेहागत्यादिमात्रे शरणागत्यभिख्योपचारान्निपततु यद्वा नैकार्थभावान्निपततु हि विविधः पालनीयत्वहेतुर्भवति**—इस अर्ध से एक शङ्का के समाधान का वर्णन है। शङ्का यह है कि यदि प्रार्थना युक्त भारसमर्पण हो शरणागति है तो गृह के द्वार पर उपस्थित होने मात्र से उस पुरुष को शरणागत क्यों माना जाता है ? महाभारत में कपोतोपाख्यान में कहा गया है कि कपोती का हरण करने वाला व्याध कपोत के निवासस्थान वृक्ष के नीचे आ जाता है, कपोत उसे शरणागत मानकर उसकी सेवा करता है। इस

कथा से तो यही सिद्ध होता है कि घर के द्वार पर आना भी शरणागति ही है। जो स्वदेश त्याग कर दूसरे देश में जाकर बसते हैं उन्हें भी शरणागत मानकर लोग उनकी सहायता करते हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि देशान्तर में जाना और देशान्तरवासियों की शरण में जाना एक ही है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि प्रार्थनायुक्त भरन्यास ही शरणागति है। इस शङ्का का समाधान यह है कि घर के द्वार पर आना इत्यादि गौण शरणागति है, मुख्य शरणागति नहीं है। प्रार्थनायुक्त भारसमर्पण ही मुख्य शरणागति है। जिस प्रकार सिंह शब्द के दो अर्थ होते हैं एक मुख्य दूसरा गौण। वन में रहने वाला प्राणिविशेष मुख्य अर्थ है, **सिंहो माणवकः** इस व्यवहार में विद्यार्थी गौण अर्थ है। उसी प्रकार शरणागति शब्द का प्रार्थनायुक्त भारसमर्पण मुख्य अर्थ है, गृहद्वार पर आना इत्यादि गौण अर्थ है। श्लोक में मुख्य शरणागति का लक्षण कहा गया है। यह एक समाधान है। दूसरा समाधान यह है कि शरण शब्द के तीन अर्थ हैं उपाय, गृह और रक्षक। प्रार्थनायुक्त भरन्यास के विषय में प्रयुक्त शरणागति शब्द में 'शरण' शब्द 'उपाय' अर्थ को बतलाता है। गृहागमन में प्रयुक्त शरणागति शब्द में 'शरण' शब्द 'गृह' अर्थ को बतलाता है। इस प्रकार शरणागति शब्द दोनों अर्थों को बतलाता है। दोनों शरणागति भिन्न २ अर्थ को लेकर हैं। श्लोक में प्रथम शरणागति के विषय में लक्षण कहा गया है। उस लक्षण के द्वितीय कोटि की शरणागति में न घटने पर भी कोई दोष नहीं लगता। जिस प्रकार दशरथनन्दन श्रीराम के विषय में कहे गये लक्षणों के परशुराम में न घटने से दोष नहीं लगता उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये।

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि प्रार्थनायुक्त भरन्यास करने पर रक्षा करना तो उचित ही है, घर के द्वार पर उपस्थित होने पर भी क्यों रक्षा की जाती है? इस शङ्का का समाधान यह है

कि रक्षा के कई साधन हैं। भरन्यास रूप शरणागति भी रक्षा का साधन है, गृहद्वार पर उपस्थित होना भी रक्षा का साधन है। दोनों प्रसंगों में ही रक्षा करने के लिये शास्त्र में आदेश है। फल-साधन होने के कारण दोनों एक वस्तु नहीं हो सकते ॥१३॥

(१४)

**आत्मात्मीयस्वरूपन्यसनमनुगतं यावदर्थं मुमुक्षो-**
**स्तत्त्वज्ञानात्मकं तत् प्रथममथ विधेः स्यादुपाये समेतम् ।**
**कैङ्कर्याख्ये पुमर्थेऽप्यनुषजति तदभ्यर्थनाहेतुभावात्**
**स्वाभीष्टानन्यसाध्यावधिरिह तु भरन्यासभागोऽङ्गिभूतः ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने यह बतलाया कि वेद आदि शास्त्र में जो शरणागति वर्णित है तथा लोक में जो शरणा-गति की जाती है उन सबमें संगत होने वाला तथा दोषशून्य लक्षण प्रार्थनायुक्त भरसमर्पण ही है गृहागमन इत्यादि मुख्य शरणागति नहीं हैं। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी मोक्षप्राप्ति के लिये की जाने वाली शरणागति की विशेषता का वर्णन करते हैं—

**मुमुक्षोरात्मात्मीयस्वरूपन्यसनं यावदर्थमनुगतं भवति तत् प्रथमं तत्त्वज्ञानात्मकम् अथ विधेरुपाये समेतं स्यात्**—शरणागति में समर्पण अङ्गी माना जाता है। शरणागति के पाँच अङ्गों के विषय में जो कुछ कहने का था, वह **यत् किंचिद्रक्षणीयम्** इत्यादि श्लोकों में कहा गया है। इस श्लोक में उस समर्पण का निरूपण होता है जो शरणागति में अङ्गी है। शरणागति में अङ्गी बनने वाला समर्पण दो प्रकार का है। (१) स्वरूपसमर्पण, और (२) भार-समर्पण। मोक्ष चाहने वाले साधक दो प्रकार के हैं (१) भक्त और (२) प्रपन्न। इन दोनों प्रकार के साधकों को स्वरूपसमर्पण करना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि भक्त भी स्वरूपसमर्पण करते हैं तथा प्रपन्न भी स्वरूपसमर्पण करते हैं। भारसमर्पण तो केवल प्रपन्नों को ही करना पड़ता है।

अब स्वरूपसमर्पण का निरूपण किया जाता है। मुमुक्षु साधक अपने आत्मस्वरूप, अपने से किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध रखने वाले शिष्य, पुत्र, पशु, पक्षी, गृह, क्षेत्र, आराम और वाहन इत्यादि तथा उपाय और फल को श्रीभगवान के श्रीचरणों में समर्पित करते हैं। स्वस्वरूप और आत्मीय पदार्थों को समर्पित करने का भाव यही है कि मुमुक्षु साधक समझते हैं कि मैं अपना नहीं हूँ, किन्तु मैं श्रीभगवान का हूँ, । जिन २ पदार्थों को मैं अपना समझता हूँ वे सब आत्मीय पदार्थ कहलाते हैं। शिष्य, पुत्र, पशु, पक्षी, गृह, क्षेत्र, आराम और वाहन इत्यादि जितने आत्मीय पदार्थ हैं, ये सब वास्तविक दृष्टि से मेरे नहीं हैं किन्तु श्रीभगवान के हैं। श्रीभगवान ने अपनी इन वस्तुओं को मुझे कर्मफल भुगाने के लिये थोड़े समय के लिये मेरे अधीन कर रक्खा है। इनमें मेरा स्वामित्व स्वाभाविक नहीं किन्तु कर्मोपाधिक है। इनमें स्वाभाविक स्वामित्व तो श्रीभगवान का ही है। मैं और मेरे पदार्थ श्रीभगवान के हैं मेरे नहीं। अनुसन्धान ही आत्मीय वस्तुओं का समर्पण कहलाता है। उपायसमर्पण का भाव यह है कि मुमुक्षु साधक यह अनुसन्धान करते हैं कि जो कुछ उपाय मुझसे बन रहा है वह सब श्रीभगवान की तरफ से ही बन रहा है, इसमें श्रीभगवान ही प्रधान कर्ता हैं मेरा जो कुछ कर्तृत्व है वह उनकी कृपा से मुझे प्राप्त है, वे न केवल प्रधान कर्ता हैं किन्तु प्रेरक, अनुमन्ता और सहायक सब कुछ हैं। यह उपाय श्रीभगवान के द्वारा सम्पन्न होने के कारण श्रीभगवान की वस्तु है मेरी नहीं। यह अनुसन्धान ही उपायसमर्पण कहलाता है। फलसमर्पण का भाव यह है कि मुमुक्षु साधक यह अनुसन्धान करते हैं कि इस उपायानुष्ठान से जो कुछ फल मिलने वाला है वह भी श्रीभगवान का है मेरा नहीं। श्रीभगवान ही उस फल के प्रधान भोक्ता हैं, मैं नहीं, मैं तो अत्यन्त गौण भोक्ता हूँ। श्रीभगवान स्वयं प्रधान रूप से रसानुभव करने के लिये ही हमें उस फल का भोग कराने वाले हैं। जिस प्रकार परिपूर्ण रसिक राजा स्वयं

रसानुभव करने के लिये शुक को पिंजड़े में रखकर दूध पिलाते हैं, अपने सिखाये गये श्रीभगवन्नामों को उसके मुख से सुनकर स्वेच्छा से उस शुक को उड़ाते हैं, विहार कराते हैं, उसी प्रकार सर्वशेषी श्रीभगवान भी कर्मवश्य जीवों को संसार में रखकर कर्मफल भुगाते हैं, तथा अपने द्वारा संपादित मोक्ष साधनों को जीवों के द्वारा संपन्न होते देखकर जीवों को संसार से छुड़ाकर परमपद में विविध विहार कराते हैं। इस प्रकार कराते हुए श्रीभगवान भोगरस का अनुभव करते हैं। राजा की तरह फल के प्रधान भोक्ता श्रीभगवान ही हैं, हम नहीं, फल भी श्रीभगवान का ही है, मेरा नहीं। यह अनुसन्धान ही फलसमर्पण है। फल और उपाय भी साधक के आत्मीय पदार्थों में अन्तर्भूत हैं। यह आत्मसमर्पण और आत्मीय सर्व पदार्थों का समर्पण सभी मुमुक्षु साधकों को करना पड़ता है। सांसारिक फलों को चाहने वाले साधक भले ही इन समर्पणों को न करें परन्तु भक्त और प्रपन्न सभी मुमुक्षु साधक इन समर्पणों को अवश्य करते हैं। इस स्वरूपसमर्पण में यही विशेषता है कि अपने पदार्थ जितने हैं उन सबका समर्पण करना पड़ता है। जो पदार्थ अपना नहीं, भले ही उसका समर्पण अयुक्त हो, अपने सभी पदार्थों का तो समर्पण करना ही चाहिये।

**तत् प्रथमं तत्त्वज्ञानात्मकम् अथ विधेरुपाये समेतं स्यात् कैङ्कर्याख्ये पुमर्थेऽप्यनुषजति तदभ्यर्थनाहेतुभावात्**—इस स्वरूप-समर्पण को ही शेषत्वज्ञान कहते हैं क्योंकि इस समर्पण में समझा जाता है कि हम और हमारे सभी पदार्थ श्रीभगवान के शेष हैं श्रीभगवान के हैं, श्रीभगवान के लिये बने हुए हैं। यह स्वरूप-समर्पण साधना के तीनों कालों में बना रहता है, साधना के पूर्व-काल में भी बना रहता है तथा साधना के काल में एवं साधना के उत्तरकाल में भी बना रहता है। यह त्रैकालिक वस्तु है। यह समर्पण साधना के पूर्वकाल में तत्त्वज्ञान के रूप में बना रहता है क्योंकि मुमुक्षु साधना के पूर्व ही शास्त्र के द्वारा इस तत्त्व को जान

जाते हैं कि सम्पूर्ण विश्व श्रीभगवान की वस्तु है, मैं और मेरे सभी पदार्थ भी श्रीभगवान की वस्तु हैं इसमें क्या सन्देह है ? इस प्रकार यह स्वरूपसमर्पण साधना के पूर्वकाल में शास्त्रजन्य तत्त्वज्ञान के रूप में बना रहता है तथा साधना के काल में भी बना रहता है क्योंकि इस तत्त्व को समझ में रखते हुये ही लोग साधना करें, ऐसा शास्त्र का विधान है। साधना के उत्तरकाल में भी यह शेषत्व-ज्ञानरूप स्वरूपसमर्पण बना रहता है। साधना का उत्तरकाल फलानुभव का काल है। कैङ्कर्य ही वह फल है। प्रार्थना करने वालों को ही श्रीभगवान कैङ्कर्य में नियुक्त कर सकते हैं। मुक्त तभी कैङ्कर्य की प्रार्थना करेंगे यदि अपने को श्रीभगवान का शेष समझते होंगे। मैं श्रीभगवान का हूँ, श्रीभगवान के लिये ही बना हुआ हूँ, श्रीभगवान का दास हूँ, इस प्रकार समझने वाले पुरुष ही कैङ्कर्य की प्रार्थना कर सकते हैं तथा कैङ्कर्य में नियुक्त हो सकते हैं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि यह स्वरूपसमर्पण कैङ्कर्य–पुरुषार्थ के काल में भी बना रहता है। सारांश यह है कि यह स्वरूप-समर्पण सभी मुमुक्षु साधकों के करने का है, अपनी सभी वस्तुओं के विषय में लागू होता है तथा साधना के तीनों काल में भी बना रहता है। आगे भारसमर्पण के विषय में कहा जाता है कि—

**इह अङ्गिभूतो भरन्यासस्तु स्वाभीष्टानन्यसाध्यावधिः**—यह पूर्व में ही कहा गया है कि शरणागति में भरन्यास अर्थात् भारसमर्पण अङ्गि कोटि में माना जाता है। भारसमर्पण का भाव यह है कि किसी भी फल को प्राप्त करने के लिये कुछ साधन अवश्यकर्तव्य हो जाता है उस कर्तव्यभार को श्रीभगवान के यहाँ समर्पित करना ही भारसमर्पण कहलाता है। इस भारसमर्पण में यही विशेषता है कि जिस इष्टसाधन को स्वयं सँभाल नहीं सकता तथा दूसरों के द्वारा भी सँभाला नहीं जा सकता उसी साधनभार को ही श्रीभगवान के यहाँ समर्पित करना चाहिये। जो साधनभार अपने से सँभाला जा सकता है उसका समर्पण नहीं करना चाहिये,

उसे स्वयं करना चाहिये। स्वरूपसमर्पण और भारसमर्पण में यह अन्तर ध्यान देने योग्य है कि स्वरूपसमर्पण में अपनी सभी वस्तुओं का समर्पण होता है, भारसमर्पण में सभी भारों का समर्पण नहीं होता किन्तु असाध्य भार का ही समर्पण होता है। इस प्रकार इस श्लोक से अङ्गी समर्पण का विवेचन किया गया है ॥१४॥

(१५)

**न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ता**
**कार्पण्यं वाऽङ्गमुक्तं भजनवदितरापेक्षणं वाऽप्यपोढम् ।**
**दुस्साधेच्छोद्यमौ वा क्वचिदुपशमितावन्यसंमेलने वा**
**ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तस्तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः ॥**

पूर्वश्लोक में शरणागति में अङ्गी बनने वाले समर्पण के विषय में विवेचन किया गया। इस श्लोक में एक शङ्का का समाधान करते हुए श्रीदेशिक स्वामी जी उस वचन के भाव को व्यक्त करते हैं जिसमें प्रपन्नों को सर्वधर्मों को त्यागने के लिये कहा गया है। यहाँ पर यह शङ्का उठती हैं कि श्रीभगवान गीता में आदेश देते हैं कि—

**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**

अर्थात्—हे अर्जुन ! तुम सर्वधर्मों को त्याग कर मुझ एक की शरण में आ जाओ तथा वे ही श्रीकृष्ण भगवान श्रीमद्भागवत एकादशस्कन्ध में श्रीउद्धव को आदेश देते हैं कि—

**तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।**
**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥**
**मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।**
**याहि सर्वात्मभावेन यास्यसि ह्यकुतोभयम् ॥**

अर्थात्—हे उद्धव ! इसलिये तुम विधिशास्त्र और निषेधशास्त्र-विहित कर्मों में प्रवृत्ति और निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति, सुनने के लिये

अवशिष्ट अर्थ और सुने हुए अर्थ, इन सबको छोड़कर सर्वप्राणियों की आत्मा मुझ एक की शरण में सर्वात्मभाव से आ जाओ, उससे ऐसे पद पर पहुंचोगे जहाँ किसी से डरना नहीं पड़ता। श्रीभगवान के इन वचनों से प्रतीत होता है कि शरणागतों को सर्वधर्मों का परित्याग करना चाहिये। यदि ऐसी बात है तो प्रपन्न लोग धर्मों का आचरण क्यों करते हैं, इन्हें उन धर्मों को छोड़ देना चाहिये। श्रीदेशिक स्वामी जी इस शङ्का का समाधान करते हुए इस श्लोक से सर्वधर्मत्याग को बतलाने वाले वचनों के तात्पर्य का वर्णन करते हैं—

**न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ता**—शरणागति का विधान करने वाले वचनों में धर्मत्याग की बात अवश्य कही गई है। उसका भाव ठीक २ समझना चाहिये। वेद आदि शास्त्रों के द्वारा श्रीभगवान की आज्ञा और अनुज्ञा विदित होती है। लोक में प्रेरणा करने वाले यह जो कहते हैं कि इस कार्य को अवश्य करो, न करने से दोष लगेगा। इस प्रकार कहने से उनकी आज्ञा व्यक्त होती है। लोक में यह जो कहा जाता है कि तुम चाहो तो इस काम को करो, इस कथन से वक्ता का अनुज्ञाभाव व्यक्त होता है। शास्त्रों से नित्य व नैमित्तिक कर्मों के विषय में श्रीभगवान का आज्ञाभाव व्यक्त होता है। वहाँ श्रीभगवान शास्त्रों के द्वारा यह आज्ञा देते हैं कि तुम इन नित्य और नैमित्तिक कर्मों को अवश्य करो अन्यथा प्रत्यवाय होगा। काम्य कर्मों के विषय में श्रीभगवान का अनुज्ञाभाव व्यक्त होता है। वहाँ श्रीभगवान यही आदेश देते हैं कि अमुक २ फलों को चाहने वाला पुरुष अमुक २ कर्मों को करे। इससे व्यक्त होता है कि श्रीभगवान काम्य कर्मों को करने के लिये निर्बन्ध नहीं करते हैं, यदि फल चाहें तो करें, न चाहें तो न करें, यही भाव वहाँ व्यक्त होता है। इसे ही अनुज्ञा कहते हैं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म आज्ञासिद्ध धर्म हैं तथा काम्यकर्म अनुज्ञासिद्ध धर्म हैं। इन

आज्ञानुज्ञासिद्ध धर्मों का त्याग करने के लिये निर्णय तभी दिया जा सकता है यदि शरणागति के विधान में वर्णित धर्मत्याग का दूसरा भाव न हो सके। ऐसी बात तो है नहीं। धर्मत्यागवचन के ऐसे ६ भाव निकलते हैं जो इन नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के अनुष्ठान से अणुमात्र भी विरोध नहीं रखते। ऐसी स्थिति में इन धर्मों को छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

धर्मत्यागवचन का प्रथम भाव यह है कि **अकिञ्चनाधिक्रियोक्ता।** शरणागति के विधायक चरमश्लोक इत्यादि में **सर्वधर्मान् परित्यज्य** कहकर जो धर्मत्याग की बात कही गई है उसका तात्पर्य यही है कि शरणागति में अकिञ्चनों का ही अधिकार है। अकिञ्चनों के द्वारा की गई शरणागति ही फलित होगी। अब विचारना होगा कि उपर्युक्त तात्पर्य कैसे निकलता है। **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** इस श्लोक में यह जो बतलाया जाता है कि सर्वधर्मों का परित्याग कर एक मेरी शरण में आ जाओ। यहाँ पर दो पक्ष होते हैं (१) विधिपक्ष (२) और अनुवादपक्ष। विधिपक्ष में यह अर्थ निकलता है कि तुम सर्वधर्मों का परित्याग करो, बाद में मेरी शरण में आओ। अनुवादपक्ष में यह अर्थ निकलता है कि सर्वधर्मों का परित्याग कर रहने वाले तुम एक मेरी शरण में आओ। इस अनुवादपक्ष में सर्वधर्मों को त्यागने का विधान नहीं है किन्तु जो ज्ञानाभाव और अशक्ति के कारण सर्वधर्मों का परित्याग करके रहते हैं उनको श्रीभगवान की शरण में जाने के लिये आदेश दिया जाता है। उपायान्तरों में सामर्थ्य न रखने वाले अधिकारी अपनी दशा तथा दुष्कर उपायान्तरों को देखकर उपायान्तरों के विषय में निराश हो जाते हैं उपायान्तरों का अनुष्ठान करने की इच्छा का परित्याग करते हैं। इस प्रकार इच्छा का परित्याग करना ही उपायान्तरों का परित्याग है। इस प्रकार परित्याग करके रहने वाले साधकों को इस श्लोक से यह आदेश दिया जाता है कि हे उपायान्तररूपी धर्मों को त्याग कर रहने वाले साधकों! आप लोग

श्रीभगवान की शरण में चले जायें। इस प्रकार आदेश देने से सिद्ध होता है कि उपायान्तरों का परित्याग कर रहने वाले अकिञ्चन अधिकारियों का ही शरणागति में अधिकार है। यह अर्थ अनुवाद-पक्ष में फलित होता है।

विधिपक्ष में पाँच अर्थ होते हैं जो धर्मानुष्ठान से विरोध नहीं रखते। उन पाँचों में यह एक अर्थ है **कार्पण्यं वाङ्मुक्तम्**। विधि-पक्ष में चरमश्लोक का यह अर्थ होता है कि तुम सर्वधर्मों का परि-त्याग करो बाद में मेरी शरण में आओ। यहाँ सर्वधर्मों को त्यागने के लिये जो कहा गया है उसका तात्पर्य शरणागति के कार्पण्य नामक अङ्ग को बतलाने में है। शरणागत श्रीभगवान की शरण में जाते समय इस प्रकार अपनी दशा का वर्णन करता है कि मैं उपायान्तरों से शून्य हूँ अतएव अकिञ्चन हूँ। इस प्रकार अपनी अकिञ्चनता का प्रकट करना ही कार्पण्य कहलाता है। यहाँ यह जो कहा गया है कि सर्वधर्मों को त्याग कर श्रीभगवान की शरण में जाओ, उसका भाव यही है कि सर्वधर्मों को त्याग कर बैठे हुए साधक अपनी इस अकिञ्चन दशा का अनुसन्धान करते हुए श्रीभगवान की शरण में चले जायें। अकिञ्चनता का अनुसन्धान करना ही कार्पण्य कहलाता है। इस प्रकार इस धर्मत्यागवचन का तात्पर्य कार्पण्यरूप अङ्ग को बतलाने में है। अशक्ति के कारण अनेक धर्मों को छोड़कर रहने वाले साधक अपनी उस दीन दशा का अनुसन्धान कर श्रीभगवान की शरण में चले जायें। यही बात यहाँ बतलाई जाती है। इससे अपने शक्य, नित्य और नैमित्तिक धर्मों का त्याग यहाँ फलित नहीं होता। अतएव प्रपन्नों के धर्मा-नुष्ठान से कोई विरोध नहीं है।

**भजनवदितरापेक्षणं वाप्यपोढम्**—यह विधिपक्ष में दूसरा अर्थ है। इसका भाव यह है कि यज्ञ, दान, तपस्या, उपवास और वर्णाश्रम-धर्म भक्तियोग के अङ्ग हैं। भक्तियोगी साधक को अङ्ग रूप से इन

धर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है। शरणागति में भी उन धर्मों की कर्तव्यता उपस्थित होने पर धर्मत्यागवचन यह बतलाता है कि शरणागति में अङ्ग रूप से उन धर्मों की आवश्यकता नहीं है, उन धर्मों को त्याग कर श्रीभगवान की शरण में चले जाना चाहिये। इससे यही सिद्ध होता है कि भले ही अन्यान्य ब्रह्मविद्याओं में अङ्ग-रूप से उन धर्मों की आवश्यकता हो, शरणागति में अङ्गरूप से उन धर्मों की आवश्यकता नहीं है। इससे यह फलित हुआ कि शरणागत भले ही शरणागति के अङ्गरूप में उन धर्मों को न करें, स्वतन्त्र रूप से तो कर सकते हैं, कैङ्कर्य रूप से कर सकते हैं। इस अर्थ में भो धर्मानुष्ठान से कोई विरोध नहीं है।

**दुस्साधेच्छोद्यमौ वा क्वचिदुपशमितौ**—इसमें दो अर्थ बतलाये गये हैं। ये दोनों अर्थ विधिपक्ष में संगत होते हैं। उपायान्तरों में अशक्त साधक ही शरणागति के अधिकारी होते हैं, शक्त साधक नहीं। कभी २ यह होता है कि वे अशक्त साधक भी चपलता दोष के कारण अशक्य उपायान्तरों को करने के लिये लालायित हो जाते हैं तथा तदर्थ प्रयत्न भी करने लगते हैं। उन साधकों के प्रति धर्मत्यागवचन से यह कहा जाता है कि असाध्य उपायान्तरों में इच्छा छोड़िये, प्रयत्न छोड़िये, इच्छा और प्रयत्न को छोड़कर श्रीभगवान की शरण में आ जाइये। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मत्यागवचन का तात्पर्य अशक्त अधिकारियों को कभी २ असाध्य उपायान्तरों के विषय में होने वाली इच्छा और प्रयत्न का त्याग कराने में है। इससे साध्य धर्मों को कैङ्कर्य रूप में करने में बाधा नहीं पड़ती।

**अन्यसम्मेलने वा ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तः**—इससे एक अर्थ बतलाया गया है, वह भी विधिपक्ष में संगत है। शरणागत उत्तरकाल में उपायान्तर करने में शक्ति प्राप्त कर यह सोच सकते हैं कि एक साधन शरणागति तो है ही, हम अन्य साधनों को करने में भो

समर्थ हैं। यदि हम अन्य साधनों को भी कर डालें तो शरणागति और अन्य साधन मिलकर अधिक फल प्रदान करेंगे, **अधिकस्याधिकं फलं** होगा। इस प्रसंग में धर्मत्यागवचन यह बतलाता है कि उन सर्वधर्मों को त्याग दो। उनसे मिलाने पर शरणागति उसी प्रकार भाग जायेगी, निष्फल हो जायेगी, जिस प्रकार मेघनाद के द्वारा ब्रह्मास्त्र से श्रीहनुमान जी को बाँधने के बाद राक्षसों के द्वारा रज्जुओं से पुनः बाँधने पर ब्रह्मास्त्र श्री हनुमान जी को छोड़कर चला गया, अपना पूर्ण फल नहीं दे सका। शरणागति ब्रह्मास्त्र के समान है। जिस प्रकार ब्रह्मास्त्र दूसरे बन्धनों के साथ सम्बन्ध नहीं रख सकता उसी प्रकार शरणागति भी दूसरे साधनों के साथ मेल नहीं रख सकती। इस प्रकार धर्मत्यागवचन का तात्पर्य शरणागति में ब्रह्मास्त्रन्याय को सूचित करने में है। इस अर्थ में भी धर्मानुष्ठान से विरोध नहीं होता क्योंकि भले ही साधनबुद्धि से किये जाने वाले अन्य धर्मों के साथ शरणागति मेल न रक्खे, कैङ्कर्य बुद्धि से किये जाने वाले धर्मों के साथ मेल रख सकती है।

इन ६ अर्थों में एक अर्थ अनुवादपक्ष के अनुकूल है शेष पाँच अर्थ विधिपक्ष के अनुकूल हैं। सारांश यह है कि भक्तियोग इत्यादि साधन दो प्रकार से किये जाते हैं। (१) मोक्ष का साधन समझ कर उन्हें साधक कर सकते हैं, तब वे साधन कहलाते हैं। (२) वे स्वयं प्रयोजन समझ कर कैङ्कर्य बुद्धि से किये जा सकते हैं, तब वे कैङ्कर्य कहलाते हैं। वर्णाश्रम धर्म भी दो प्रकार से किये जा सकते हैं। (१) मोक्षसाधन ब्रह्मविद्याओं का अङ्ग समझ कर किये जा सकते हैं। इसे सूत्रकार ने **सहकारित्वेन च** इस सूत्र में बतलाया है। (२) वर्णाश्रमधर्म वर्णाश्रम वालों के नित्य कर्म होने के कारण प्रत्यवायपरिहार के लिये कैङ्कर्य बुद्धि से किये जा सकते हैं। इसे सूत्रकार ने **विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि** इस सूत्र में बतलाया है। यहाँ पर साधनबुद्धि से अथवा अङ्गबुद्धि से किये जाने वाले धर्मों को त्यागने के लिये विधान है क्योंकि उनसे ही शरणागति

का विरोध है। कैङ्कर्यबुद्धि से किये जाने वाले धर्मों को त्यागने के लिये यहाँ नहीं कहा गया है क्योंकि उनसे शरणागति का विरोध नहीं है। इससे फलित हुआ कि शरणागत कैङ्कर्यबुद्धि से धर्मों का आचरण कर सकते हैं। इस भाव को व्यक्त करते हुए श्रीदेशिक स्वामी जी ने कहा है कि **तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः** जिसका भाव ऊपर वर्णित है ॥१५॥

(१६)

**आदेष्टुं स्वप्रपत्तिं तदनुगुणगुणाद्यन्वितं स्वं मुकुन्दो**
**मामित्युक्त्वैकशब्दं वदति तदुचितं तत्र तात्पर्यमूह्यम् ।**
**तत् प्राप्यप्रापकैक्यं सकलफलदतां न्यासतोऽन्यानपेक्षां**
**प्राधान्याद्यं च किंचित् प्रथयति स परं श्रीसखे मुक्त्युपाये ॥**

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने धर्मत्यागवचन के ऐसे ६ अर्थ बतलाये जो प्रपन्नों के धर्मानुष्ठान से अविरुद्ध हैं। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी एक शङ्का का समाधान करते हुए चरमश्लोकस्थ एक शब्द के ऐसे ६ अर्थ बतलाते हैं जो शरणागति के उपायत्व से विरोध नहीं रखते हैं।

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि पूर्वश्लोकों में यह जो कहा गया कि शरणागति में आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँचों अङ्ग हैं, समर्पण अङ्गी है, वह अर्थ तभी संगत होगा यदि शरणागति उपाय हो क्योंकि उपाय में ही अङ्ग और अङ्गी होते हैं। शरणागति तो उपाय बन नहीं सकती क्योंकि इस चरमश्लोक में **शरणं व्रज** कहकर श्रीभगवान यही आदेश देते हैं कि मुझ एक को उपाय समझो। इससे सिद्ध होता है कि शरणागति उपाय नहीं है। यदि शरणागति उपाय बनती तो मोक्षप्राप्ति के लिये दो उपाय हो जायेंगे। एक श्रीभगवान तथा दूसरा शरणागति। ऐसी स्थिति में श्रीभगवान का यह कथन कि मुझ एक को उपाय समझो असंगत

हो जायेगा। इस विवेचन से फलित होता है कि शरणागति उपाय नहीं। जब शरणागति उपाय ही न रहेगी तब अङ्गी और अङ्गों का प्रसङ्ग ही कहाँ उठता है ? समर्पण को अङ्गी और पाँचों को अङ्ग मानना असंगत है। इस प्रकार शङ्का उपस्थित होने पर इस श्लोक से श्रीदेशिक स्वामी जी यह कहते हैं कि शङ्का करने वाले विद्वान् चरमश्लोकस्थ एक शब्द के बल से शरणागति के उपायत्व का खण्डन करना चाहते हैं, यह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा क्योंकि एक शब्द के ऐसे ६ अर्थ बतलाये जा सकते हैं जो शरणागति के उपायत्व से विरोध नहीं रखते हैं—

**स्वप्रपत्तिमादेष्टुं मुकुन्दस्तदनुगुणगुणाद्यन्वितं स्वं मामित्युक्त्वैक-शब्दं वदति तत्र तदुचितं तात्पर्यमूह्यम्**—श्रीभगवान इस चरमश्लोक से यह बतलाना चाहते हैं कि मुमुक्षु लोग मेरी शरण में आ जायें। इस अभिप्राय से इस श्लोक से मोक्ष के लिये शरणागति का विधान करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शरणागति मोक्षसाधन है। यदि शरणागति मोक्षसाधन न होती तो श्रीभगवान **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि** कहकर मोक्ष का शरणागति फल के रूप में वर्णन नहीं करते। वर्णन करने के कारण मानना पड़ता है कि श्रीभगवान भी शरणागति को मोक्षसाधन मानते हैं। यह नहीं हो सकता कि श्रीभगवान **शरणं व्रज** कहकर शरणागति को मोक्षसाधन के रूप में वर्णन करें तथा साथ ही **मामेकम्** कहकर शरणागति के उपायत्व का भी खण्डन करें। ऐसा होने पर एक श्रीभगवान की उक्ति में परस्पर विरोध उपस्थित हो जायेगा। अतः यहाँ पर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि श्रीभगवान की श्रीसूक्ति में परस्पर विरुद्ध अर्थों का वर्णन नहीं हो सकता। एक शब्द से प्रतीत होने वाले अनेक अर्थों में उन अर्थों को ही जो शरणागति के उपायत्व से विरोध नहीं रखते हैं मानना चाहिये। एक शब्द का तात्पर्य उन अर्थों में ही मानना चाहिये। विद्वानों को चाहिये कि वैसे तात्पर्य को ढूँढ निकालें। शरणागति के उपायत्व से विरोध

न रखने वाले ६ अर्थ एक शब्द से बतलाये जा सकते हैं उन अर्थों में एक शब्द का तात्पर्य भी संगत हो जाता है। वे अर्थ आगे बतलाये जायेंगे।

भोग और मोक्ष देने वाले श्रीमुकुन्द भगवान इस चरमश्लोक में अपने विषय में शरणागति का विधान करने के लिये यह कह रहे हैं कि **मामेकं शरणं व्रज** अर्थात् मुझ एक की शरण में आओ। यहाँ **माम्** कहकर श्रीभगवान स्वस्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम मेरे स्वरूप को अच्छी तरह से समझो कि मैं सबको शरण देने के लिये अवतार लेकर अपने सौलभ्य को व्यक्त कर रहा हूँ, सुलभ व्यक्ति की शरण में जाने में कोई क्लेश नहीं है, मैं केवल सुलभ ही नहीं हूँ किन्तु स्वामी होने के कारण जीव प्राप्ति को अपना लाभ समझ कर जीवों की रक्षा में उद्यत रहता हूँ, खोई हुई वस्तु प्राप्त होने पर जितना आनन्द स्वामी को प्राप्त होता है उतना या उससे अधिक आनन्द मुझे जीवों को प्राप्त करने पर प्राप्त होता है। अतएव मैं जीवों की रक्षा करने के लिये सर्वदा अवसर अर्थात् मौका ढूँढता रहता हूँ। अवसर की प्रतीक्षा करते हुए हम सर्वजीवों के सम्मुख सर्वदा खड़े रहते हैं। जीवों को आकृष्ट कर अपनी शरण में लेने के लिये ही हमने इतने सुन्दर पार्थसारथिरूप को धारण किया है। हम अत्यन्त वत्सल हैं, आश्रितों के दोष को देखना हम जानते ही नहीं। तुम उस सेना में खड़े हुए शत्रुओं से स्नेह कर रहे हो, जिन शत्रुओं पर दया नहीं करना चाहिये उन पर दया कर रहे हो, क्षत्रियों के परमधर्म युद्ध को अधर्म समझ रहे हो, अधर्म भिक्षावृत्ति को धर्म समझ रहे हो, इन दोषों से युक्त तुमको भी अपना ही रहा हूँ, अपनाकर मैं अपने वात्सल्य गुण को सर्वविदित कर रहा हूँ। हम अत्यन्त सुशील हैं। निम्नकोटि के जीवों के साथ हिलमिल कर रहने में तथा उनकी आज्ञा के अनुसार चलने में मैं अपूर्व आनन्द का अनुभव करता हूँ। तुम जानते ही हो "हे कृष्ण! हे यादव!" इत्यादि तुम्हारे तिरस्कार-

सूचक संबोधनों को सुनकर मैं कितना प्रफुल्लित होता था। **रथं स्थापय मेऽच्युत** हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करो, इस प्रकार की तुम्हारी आज्ञा को तत्क्षरण मैंने कार्यान्वित किया। हमसे बढ़कर सुशील जगत में मिल ही नहीं सकता। यह तुम जानते ही हो। तुम्हारी इच्छा के अनुसार मैंने विश्वरूप और सौम्यरूप को दिखाकर अपनी सौलभ्य सोमा तक तुम्हें पहुंचा दिया। अब कहो कि सुलभ, सुशील, वत्सल, दयालु तथा जीवरक्षा का अवसर ढूँढने वाले स्वामी मेरी शरण में आने में सरलता है या कठिनता है? तुम ही बतलाओ। कहना होगा मेरी शरण में आने में अत्यन्त सरलता है। इस प्रकार शरण्य बनने के लिये अपेक्षित सर्वगुणों से अलंकृत मुझ एक की शरण में जहाँ तक हो सके जल्दी आ जाओ। इसी में तेरा कल्याण है। इस प्रकार शरणागति का आदेश देते हुए श्रीभगवान ने अपने विषय में जो एक शब्द का प्रयोग किया है, उसका ऐसे अर्थों में तात्पर्य निकाला जा सकता है जो मोक्षप्राप्ति के लिये विहित शरणागति के साधनत्व से अणुमात्र भी विरोध नहीं रखते हैं।

**स मुक्त्युपाये श्रीसखे परं प्राप्यप्रापकैक्यं सकलफलदतां न्यासतोऽन्यानपेक्षां प्राधान्याद्यं च प्रथयतीति तत्**—वह तात्पर्य इस प्रकार है कि श्रीमहालक्ष्मीसमेत श्रीभगवान मोक्ष के उपाय हैं। केवल भगवान उपाय नहीं हैं तथा केवल श्रीमहालक्ष्मी जी भी उपाय नहीं हैं। किन्तु युगल सरकार ही उपाय हैं। श्रीमहालक्ष्मीसमेत श्रीभगवान भक्ति और प्रपत्ति से प्रसन्न होकर मोक्ष देते हैं अतएव वे मोक्ष का उपाय माने जाते हैं। किंच श्रीभगवान शरणागतों के विषय में उपायान्तर के स्थान में रहकर फल देते हैं अतएव शरणागत को उपायान्तर नहीं करना पड़ता। इस कारण से भी श्रीभगवान मोक्ष का उपाय माने जाते हैं। मोक्षोपाय बनने वाले श्रीमन्नारायण भगवान के विषय में चरमश्लोकस्थ एक शब्द यह बतलाता है कि श्रीभगवान उपाय और फल की दृष्टि से एक हैं।

उपाय भी श्रीभगवान हैं तथा प्राप्य फल भी श्रीभगवान हैं। दूसरे उदाहरणों में उपाय और फल भिन्न २ होते हैं। ज्योतिष्टोम याग उपाय है और स्वर्ग फल है, दर्शपूर्णमास याग उपाय है और स्वर्ग फल है। याग और स्वर्ग भिन्न २ पदार्थ हैं। इस प्रकार सर्वत्र उपाय और फल में भेद समझना चाहिये। प्रकृत में वैसी बात नहीं हैं। यहाँ तो उपाय और फल दोनों श्रीभगवान ही हैं। श्रीभगवान शरणागत को फल देते हैं, इसलिये वे उपाय हैं, अन्त में श्रीभगवान ही प्राप्य हैं। इस प्रकार यहाँ प्राप्य और प्रापक (उपाय) एक हो जाते हैं। यदि घास दिखाकर गौ गोष्ठ में बुलाई जाय, गोष्ठ में आने पर उस गौ को खाने के लिये वह घास दी जाय तो वहाँ उपाय और फल एक हो जाता है। गौ को बुलाने का साधन होने से घास उपाय है तथा गौ का खाद्य होने से घास प्राप्य फल भी है। वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। मोक्ष देने वाले होने के कारण श्रीभगवान उपाय हैं तथा मोक्ष में अनुभाव्य होने के कारण श्रीभगवान प्राप्य भी हैं। प्राप्य और प्रापक की इस एकता को एक शब्द बतलाता है। इस अर्थ में शरणागति के उपायत्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतएव इस श्लोक में कहा गया है कि **प्राप्यप्रापकैक्यम्**। यह प्रथम अर्थ है।

**सकलफलदताम्**—यह दूसरा अर्थ है। चरमश्लोक में श्रीभगवान यह आदेश देते हैं कि सर्वधर्मों को छोड़कर रहने वाले तुम मुझ एक की शरण में आ जाओ, मैं तुझे सर्वपापों से छुड़ा दूँगा, शोक मत कर। यहाँ पर सर्वधर्म, सर्वपाप और श्रीभगवान को एकता का उल्लेख किया गया है। इन सर्वशब्द और एक शब्द पर ध्यान देने पर श्रीभगवान का यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि नाना प्रकार के पापों से छूटने के लिये नाना प्रकार के धर्मों का आचरण करना चाहिये। जो उन धर्मों के आचरण में असमर्थ होते हुए भी पापों से छुटकारा चाहते हैं उनको श्रीभगवान यह सन्देश देते हैं कि हे सर्वपापों से छूटने में उत्सुक तथा उन सर्वपापों से छुड़ाने

वाले धर्मों को छोड़कर रहने वाले असमर्थ साधकों ! उन सर्वधर्मों के स्थान में मुझ एक की शरण में आ जाओ, मैं तुम लोगों को उन सर्वपापों से छुड़ा दूँगा। इससे फलित होता है कि श्रीभगवान सकलफलों का प्रदान करने वाले हैं। जो साधक जिस २ फल को चाहते हैं तथा फल देने वाले जिन २ धर्मों के आचरण में अपने को असमर्थ पाते हैं यदि वे उन धर्मों के स्थान में एकमात्र श्रीभगवान की शरण में चले जायें तो उन सर्वविध फलों को प्राप्त करेंगे। श्रीभगवान का यह उपदेश उस वैद्यराज के उपदेश के समान है जो यह कहे कि हे अनेक रोगों से पीड़ित रोगी ! तेरे एक २ रोग को मिटाने के लिये एक २ औषध है उन सब औषधों को छोड़कर तू इस एक सिद्धौषध का ही सेवन कर, यह एक औषध ही उन सब रोगों को नष्ट कर तुझे सुखी बना देगा। तू चिन्ता मत कर। प्रकृत में श्रीभगवान का उपदेश इस प्रकार का ही है। इस प्रकार एक शब्द श्रीभगवान के सर्वफलदातृत्व को बतलाता है। इस अर्थ में भी शरणागति के उपायत्व से विरोध उपस्थित नहीं होता।

**न्यासतोऽन्यानपेक्षाम्**—इसमें तीसरा और चौथा अर्थ निहित है। तीसरा अर्थ यह है कि शरणागत के विषय में अकेले होकर कार्य करना श्रीभगवान का स्वभाव है। इसलिये अकेले भगवान की शरण में जाने के लिये यहाँ कहा जाता है। भक्तियोग करने में उत्सुक साधक भक्तियोग के विरोधी पापों को नष्ट करने के लिये आरम्भ में श्रीभगवान की शरण में जाते हैं। इसे ही अङ्गप्रपत्ति कहते हैं। शरणागति के बाद उन्हें भक्तियोग करना पड़ता है, उससे प्रसन्न होकर भगवान अन्त में फल देते हैं। शरणागति का दूसरा रूप भी है जिसे स्वतन्त्रप्रपत्ति कहते हैं। स्वतन्त्रप्रपत्ति करने वालों को भक्तियोग नहीं करना पड़ता। भक्तियोग में असमर्थ साधक ही स्वतन्त्रप्रपत्ति का अनुष्ठान करते हैं। इन असमर्थ साधकों के विषय में शरणागति से प्रसन्न भगवान इनके सब भार

को अपने गुणों पर उठा लेते हैं, इन पर भक्तियोग इत्यादि भार को न डालकर बिना उसका सहारा लिये अकेले ही होकर इनके मनोरथ को पूर्ण करते हैं। श्रीभगवान के इस अकेलेपन को एक शब्द बतलाता है। इससे फलित होता है कि स्वतन्त्रप्रपत्तिनिष्ठ साधकों को शरणागति के बाद भक्तियोग इत्यादि साधनों में हाथ नहीं डालना चाहिये क्योंकि उनका सहारा लिये बिना ही श्रीभगवान अकेले होकर कार्य करना चाहते हैं। इस तृतीय अर्थ में भी शरणागति के उपायत्व से कोई विरोध नहीं रहता है।

चतुर्थ अर्थ यह है कि जिस प्रकार स्वतन्त्रप्रपत्तिनिष्ठों को शरणागति के बाद भक्तियोग इत्यादि दूसरे साधनों को नहीं करना चाहिये क्योंकि उनका सहारा लिये बिना ही श्रीभगवान अकेले होकर कार्य करने वाले हैं। उसी प्रकार स्वतन्त्रप्रपत्तिनिष्ठों को शरणागति के साथ आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँच अङ्गों के सिवाय दूसरे किसी अङ्ग को नहीं मिलाना चाहिये। भले वह अङ्ग भक्तियोग में अपेक्षित हो, शरणागति में तो अपेक्षित है ही नहीं। उन अन्यान्य अङ्गों की सहायता लेकर श्रीभगवान शरणागतों की रक्षा करने वाले नहीं हैं किन्तु अकेले होकर ही रक्षा करने वाले हैं। श्रीभगवान के इस अकेलेपन को एक शब्द बतलाता है। इस अर्थ में भले यह सिद्ध हो कि श्रीभगवान आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि अङ्गों के सिवा दूसरे किसी अङ्ग की अपेक्षा नहीं रखते हैं, यह तो सिद्ध होता नहीं कि श्रीभगवान शरणागति की भी अपेक्षा नहीं रखते। श्रीभगवान कम से कम शरणागति की अपेक्षा तो अवश्य रखते हैं। इससे विदित होता है कि इस अर्थ से शरणागति के उपायत्व में कोई बाधा नहीं पड़ती।

**प्राधान्याद्यं च**—इसमें पञ्चम और षष्ठ अर्थ निहित हैं। एक शब्द का प्रधान एक अर्थ है। **मामेकं शरणं व्रज** अर्थात मुझे प्रधान उपाय समझो, दूसरे किसी को प्रधान उपाय मत समझो, इस

प्रकार श्रीभगवान कहते हैं। इसका भाव यह है कि अपनी रक्षा के लिये जीव शरणागति करता है। शरणागति में कर्ता होने के कारण जीव समझ सकता है कि शरणागति करके मैं अपनी रक्षा कर रहा हूँ। मेरे तथा श्रीभगवान के प्रयत्न से मेरी रक्षा होने वाली है। श्रीभगवान तथा मैं दोनों ही रक्षक हैं। रक्षक होने से श्रीभगवान जिस प्रकार सिद्धोपाय हैं वैसे मैं भी सिद्धोपाय हूँ। इस प्रकार जीव अपने को भी सिद्धोपाय माने यह श्रीभगवान को अभिमत नहीं है। अतएव श्रीभगवान यहाँ पर यह आदेश देते हैं कि मुझ एक को उपाय समझो। इसका भाव यह है कि जीव यद्यपि शरणागति करके अपनी रक्षा कर लेता है इतने मात्र से जीव को श्रीभगवान के समान उपाय मानना उचित नहीं। क्योंकि जीव का कर्तृत्व शास्त्रसिद्ध होने पर भी पराधीन है, अल्प विषय में ही लागू हो सकता है, उस कर्तृत्व पर बाधा भी पड़ सकती है। ईश्वर का कर्तृत्व तो स्वाधीन है, सर्वविषय में प्रवृत्त होता है कभी प्रतिहत नहीं होता। यदि ईश्वर सहायता न करें तो जीव कुछ कर ही नहीं सकता। यह क्षुद्रकर्तृत्व वाला जीव विशिष्टकर्तृत्व वाले ईश्वर के समान कभी नहीं बन सकता। ईश्वर प्रधानकर्ता हैं, जीव अप्रधानकर्ता है। ईश्वर को ही प्रधान उपाय मानना चाहिये। जीव की अपेक्षा ईश्वर की प्रधान उपायता सिद्ध होने पर भी शरणागति का उपायत्व अक्षुण्ण ही रहता है।

षष्ठ अर्थ यह है कि श्रीभगवान को ही प्रधान उपाय समझना चाहिये। शरणागति को भी श्रीभगवान के समान प्रधान उपाय नहीं समझना चाहिये। यह शरणागति श्रीभगवान को प्रसन्न करने के लिये ही है। प्रसन्न होकर फल देने वाले श्रीभगवान ही हैं। शरणागति स्वयं फल नहीं दे सकती। इस लिये श्रीभगवान को ही प्रधान उपाय मानना चाहिये। शरणागति अत्यन्त गौण उपाय है। इस अर्थ से भी शरणागति के उपायत्व में बाधा नहीं पड़ती।

इस प्रकार चरमश्लोकस्थ एक शब्द के ६ अर्थ हो सकते हैं। इन अर्थों में शरणागति के साध्योपायत्व पर बाधा नहीं होती। शरणागति को साध्योपाय मानना चाहिये ॥१६॥

(१७)

**स्वाभीष्टप्राप्तिहेतुः स्वयमिह पुरुषैः स्वीकृतः स्यादुपायः**
**शास्त्रे लोके च सिद्धः स पुनरुभयथा सिद्धसाध्यप्रभेदात् ।**
**सिद्धोपायस्तु मुक्तौ निरवधिकदयः श्रीसखः सर्वशक्तिः**
**साध्योपायस्तु भक्तिर्न्यसनमिति पृथक् तद्वशीकारसिद्ध्यै ॥**

पूर्वश्लोक में यह कहा गया है कि श्रीभगवान व शरणागति ये दोनों उपाय हैं। इस पर यह शङ्का होती है कि उपाय शब्द का अर्थ क्या है ? श्रीभगवान और शरणागति ये दोनों कैसे उपाय बनते हैं ? क्या इन दोनों उपायों में कोई मौलिक अन्तर है ? इन दोनों उपायों का क्या प्रयोजन है ? इस शङ्का का समाधान अगले श्लोक में निहित है इसका विवरण इस प्रकार है कि—

**इह पुरुषैः स्वयं स्वीकृतः स्वाभीष्टप्राप्तिहेतुरुपायः स्यात्**—इस संसार में जीवों के द्वारा स्वेच्छापूर्वक अपनाया जाने वाला जो इष्ट-साधन है वह उपाय माना जाता है। यह उपाय शब्द का अर्थ है। लोक में जीवों को सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति अभीष्ट है। इसे प्राप्त करने के लिये जीव साधन को ढूँढते हैं। जब जीवों को यह विदित होता है कि अमुक साधन से हमारा इष्ट सिद्ध होगा तब जीव बिना किसी हिचकिचाहट के स्वेच्छापूर्वक उस साधन को अपनाने लगते हैं। इस प्रकार जीवों के द्वारा स्वेच्छापूर्वक अपनाया जाने वाला इष्टसाधन पदार्थ ही उपाय शब्द से व्यवहृत होता है।

**शास्त्रे लोके च सिद्धः**—यह उपाय शास्त्र में भी वर्णित है तथा लोक में भी प्रसिद्ध है। लोक में भोजन इत्यादि प्रयोजन के लिये किये जाने वाले पाक इत्यादि साधन लोकसिद्ध उपाय हैं। स्वर्ग

इत्यादि प्रयोजन के लिये किये जाने वाले याग इत्यादि साधन शास्त्र-सिद्ध उपाय हैं क्योंकि ये उपाय शास्त्रों में ही वर्णित हैं, शास्त्रों के द्वारा हम इन्हें समझ सकते हैं।

**स पुनः सिद्धसाध्यप्रभेदादुभयथा**—वह उपाय दो प्रकार का है एक सिद्धोपाय है दूसरा साध्योपाय है। सिद्धोपाय उसे कहते हैं कि जो साधनानुष्ठान के पूर्वकाल से लेकर विद्यमान है तथा इष्ट का साधन है। साध्योपाय उसे कहते हैं कि जो पहिले से विद्यमान नहीं है किन्तु पुरुषप्रयत्न से साध्य है तथा इष्ट का साधन है। ये दोनों ही उपाय लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। उदाहरण—लोक में राजा इत्यादि सिद्धोपाय हैं तथा सेवा इत्यादि साध्योपाय हैं। सेवा से प्रसन्न होकर राजा भृत्यों को वेतन देते हैं। वेतन भृत्यों का अभीष्ट है। वेतन देने वाला राजा इष्टसाधन है, अतएव उपाय है। सेवा से प्रसन्न होकर राजा वेतन देते हैं, सेवा न करने पर नहीं देते हैं, इससे सिद्ध होता है कि सेवा भी इष्टसाधन होने से उपाय है। राजा और सेवा दोनों उपाय होने पर भी दोनों में यह मौलिक अन्तर है कि राजा सिद्ध उपाय हैं क्योंकि राजा प्रयत्न से उत्पाद्य नहीं है किन्तु पूर्वसिद्ध हैं, अर्थात् पहले से ही बने हुए हैं। सेवा साध्य उपाय है, उसे भृत्यों को प्रयत्न से साधना पड़ता है। शास्त्रप्रसिद्ध सिद्धोपाय देवता इत्यादि हैं तथा शास्त्रप्रसिद्ध साध्योपाय याग इत्यादि हैं। याग से आराधन करने पर देवता प्रसन्न होकर स्वर्ग इत्यादि फल देते हैं। इसलिये याग और देवता उपाय माने जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि देवता पूर्वसिद्ध उपाय हैं, याग प्रयत्नसाध्य उपाय हैं। इस प्रकार दोनों उपाय लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध हैं।

**मुक्तौ सिद्धोपायस्तु निरवधिकदयः सर्वशक्तिः श्रीसखः, साध्योपायस्तु भक्तिर्न्यसनमिति पृथक् तद्वशीकारसिद्धयै (भवति)**—अब यह विचार करना चाहिये कि मोक्ष को साधने में सिद्धोपाय क्या

होगा तथा साध्योपाय क्या होगा ? मोक्ष के विषय में एकमात्र श्रीमन्नारायण भगवान ही सिद्धोपाय हैं। एक वे ही मोक्ष दे सकते हैं दूसरे देवता नहीं। मोक्ष देने के लिये पर्याप्त गुण उनमें हैं। वे अपार दया वाले हैं तथा सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। दयालु होने के कारण आश्रितों को आश्रय देने तथा फल देने में भी सर्वदा सोत्साह रहते हैं तथा सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण फल देने में सर्वथा समर्थ हैं उस दयालु के मन में संकल्प होते ही तत्क्षण फल मिल जायेगा, कोई भी शक्ति उन्हें रोक नहीं सकती। श्रीभगवान भक्ति अथवा शरणागति से प्रसन्न होने के बाद ही मोक्ष देते हैं। भक्ति अथवा शरणागति से ही साधक श्रीभगवान को अपने वश में कर सकता है, अपने अनुकूल बना सकता है। इसलिये भक्ति और शरणागति की आवश्यकता है। ये दोनों साध्योपाय हैं क्योंकि ये दोनों साधकों के प्रयत्न से साध्य हैं तथा भगवत्प्रसाद द्वारा अवश्य ही फल में पर्यवसान पाते हैं ॥१७॥

## (१८)

**अत्यन्ताकिंचनोऽहं त्वदपचरणतः सन्निवृत्तोऽद्य नाथ**
**त्वत्सेवैकान्तधीः स्यां त्वमसि शरणमित्यध्यवस्यामि गाढम्।**
**त्वं मे गोपायिता स्यास्त्वयि निहितभरोऽस्म्येवमित्यर्पितात्मा**
**यस्मै स न्यस्तभारः सकृ (दिति) दथ तु सदा न प्रयस्येत्तदर्थम् ॥**

पूर्वश्लोक में उपाय एवं उसके अवान्तर भेद का वर्णन हुआ। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी अङ्ग समेत भरन्यास के अनुष्ठान-प्रकार को बतलाते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि जिस फल को प्राप्त करने के लिये साधक ने शरणागति की उसी फल को प्राप्त करने के लिये साधक उत्तरकाल में किसी साधन पर हाथ न डाले। एक बार की गई शरणागति से ही वह फल उद्दिष्ट समय पर प्राप्त हो जायेगा।

**हे नाथ ! अत्यन्ताकिंचनोऽहम्**—शरणागति करने वाला श्रीभग-

वान से निवेदन करता है कि हे नाथ ! आप स्वामी हैं, मैं दास हूँ, यह आपका हमारा अच्छेद्य स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के अनुसार मुझे आपकी सेवा करनी चाहिये परन्तु अनादिकाल से आपकी आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण माया में फँसा हुआ मैं आपके निग्रह का पात्र बनकर इस सम्बन्ध को भूल गया। पापाचरण के कारण ज्ञान और शक्ति कुण्ठित हो गये। अब मैं आपको प्राप्त कराने वाले कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग में हाथ डालने के योग्य ही न रहा, न उन साधनों को समझ सकता हूँ न कर सकता हूँ। यहाँ तक कि उन साधनों के लिये अपेक्षित योग्यता दिलाने वाले नित्य और नैमित्तिक कर्मों को भी मैं अच्छी तरह से शास्त्रोक्त रीति से नहीं कर सकता हूँ। इस प्रकार मैं सर्वथा उपायहीन बन चुका हूँ, अत्यन्त अकिंचन हो गया हूँ। यह मेरी दयनीय स्थिति है। इस निवेदन से कार्पण्य अङ्ग पर प्रकाश पड़ता है।

**अद्य त्वदपचरणतः सन्निवृत्तः**—साधक आगे निवेदन करता है कि हे नाथ ! आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से मैं आपके अपचार से दूर रहूँगा। आपकी आज्ञा को न मानना, अकृत्यों को करना, कृत्यों को न करना, आप, भागवतों तथा आचार्य के विषय में अपराध करना तथा मन वाक् और शरीर से प्राणियों को पीड़ा पहुंचाना इत्यादि सब आपके विषय में होने वाले अपचार हैं। इन अपचारों से मैं बचता रहूँगा। यह मेरा अटल संकल्प है। इस निवेदन से प्रातिकूल्यवर्णन नामक अङ्ग पर प्रकाश पड़ता है।

**त्वत्सेवैकान्तधीः स्याम्**—साधक आगे निवेदन करता है कि हे नाथ ! मैं संकल्प करता हूँ कि आज से मैं आपकी सेवा करता रहूँगा। आपकी आज्ञा को मानना, शास्त्रोक्त कर्मों को करना, भगवद्भागवताचार्यों की परिचर्या करना एवं प्राणिमात्र को सुख पहुंचाना इत्यादि सब आप की सेवा है। मैं इस सेवा को अवधान के साथ करता रहूँगा। इस निवेदन से आनुकूल्यसंकल्प अङ्ग सूचित होता है।

**त्वं शरणमसीति गाढमध्यवस्यामि**—साधक आगे निवेदन करता है कि मैं पक्का विश्वास करता हूँ कि आप रक्षा करेंगे। आप स्वामी हैं, मैं आपकी वस्तु हूँ, स्वामी अपनी वस्तु की रक्षा अवश्य करते हैं। यह लोक में देखा गया है कि स्वामी ही अपनी वस्तु की रक्षा करने के लिये सदा चिन्तित रहते हैं। आप दयालु तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। आपका संकल्प कभी प्रतिहत नहीं होता। आप दयालु होने से शरणागतों की रक्षा करने के लिये अवश्य संकल्प करेंगे। सत्यसंकल्प होने के कारण उस संकल्प को अवश्य पूरा करेंगे। आप से बढ़कर कोई नहीं है जो आपके संकल्प पर बाधा डाल सके। इसलिये हमको इस बात पर सुदृढ़ विश्वास होता है कि आप हमको शरण देकर अवश्य रक्षा करेंगे। इस निवेदन से महाविश्वास अङ्ग सूचित होता है।

**त्वं मे गोपायिता स्याः**—दयालो ! नाथ ! श्रीभगवन् ! मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे रक्षक बन जाइये। आपको छोड़कर हमारी दूसरी गति नहीं है। इस निवेदन से गोप्तृत्ववरण अङ्ग सूचित होता है।

**त्वयि एवं निहितभरोऽस्मि**—मैंने आपके चरणों में अपने रक्षा-भार को सौंप दिया है, मेरी रक्षा करना आपके जिम्मे है। मैंने आपके चरणों में आत्मसमर्पण, भारसमर्पण और फलसमर्पण सब कुछ कर दिया है। मैं आपका हूँ, मेरी रक्षा का भार भी आपका है, रक्षा से होने वाला फल भी प्रधान रूप से आपको ही मिले। यही मेरा अन्तिम निवेदन है। इस निवेदन से समर्पण अङ्गी व्यक्त होता है।

**इत्यर्पितात्मा स यस्मै सकृत् न्यस्तभारः अथ तदर्थं सदा न प्रयस्येत्**—इस प्रकार आत्मसमर्पण करने वाले साधक ने जिस फल को (चाहे वह मोक्ष हो या दूसरा ही हो) प्राप्त करने के लिये एक बार श्रीभगवान के चरणों में भारसमर्पण कर दिया है वह उत्तर-

काल में उस फल को प्राप्त करने के लिये पुनः कोई प्रयास न करे, न किसी दूसरे साधन में हाथ डाले, न पुनः शरणागति ही करे। शरणागति एक ही बार करने की है। दूसरे साधन में हाथ डालने पर शरणागति ब्रह्मास्त्र की तरह छूट जायेगी। केवल फलप्राप्ति की प्रतीक्षा करता रहे ॥१८॥

(१९)

**त्यक्त्वोपायानपायानपि परमजहन्मध्यमां स्वार्हवृत्तिं**
**प्रायश्चित्तं च योग्यं विगतऋणततिर्द्वन्द्ववात्यां तितिक्षुः।**
**भक्तिज्ञानादिवृद्धिं परिचरणगुणान् सत्समृद्धिं च युक्तां**
**नित्यं याचेदनन्यस्तदपि भगवतस्तस्य यद्वाऽऽप्तवर्गात् ॥**

पूर्वश्लोक में सांग शरणागति का निरूपण कर यह कहा गया है कि शरणागति को एक बार ही करना चाहिये। दूसरे किसी साधन में हाथ नहीं डालना चाहिये। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि शरणागति करने पर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है उसको उत्तर-काल में क्या छोड़ना चाहिये ? क्या करना चाहिये ? किस प्रसंग में कैसा विचार रखना चाहिये ? किन बातों के विषय में प्रार्थना करनी चाहिये ? वह प्रार्थना भी किन से करनी चाहिये ? इन शङ्काओं का समाधान इस श्लोक से आचार्य करते हैं—

**परमुपायानपायानपि त्यक्त्वा मध्यमां स्वार्हवृत्तिमजहत्**— शरणागत को चाहिये कि वह शरणागति के उत्तरकाल में क्षुद्रफल देने वाले काम्यधर्मरूपी क्षुद्र उपायों का परित्याग करदे तथा मोक्ष देने वाले उपायान्तरों को भी छोड़ दे उनमें हाथ न डाले। अनर्थ देने वाले पापरूपी अपायों से भी बचता रहे। इस प्रकार उपाय और अपाय इन दोनों किनारों को छाड़कर मध्यम मार्ग पर चले। ऐसा आचरण रक्खे जो उपायवर्ग तथा अपायवर्ग में गिना न जा सके। अपने लायक वह मध्यम आचरण यही है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करते रहना चाहिये क्योंकि इन कर्मों को

करने से न बन्धन में डालने वाले क्षुद्रफल ही प्राप्त होंगे न मोक्ष में ही बाधा उपस्थित होगी। ये कर्म तो प्रत्यवाय न होने के लिये किये जाते हैं। इस प्रकार नित्यनैमित्तिक कर्मों को करते रहना ही मध्यम मार्ग में चलना है। शरणागत को उपाय और अपायों को छोड़कर मध्यम मार्ग में चलना चाहिये। माया सम्बन्ध के कारण कभी २ यदि पाप बन पड़े तो शरणागत को चाहिये कि वह योग्य प्रायश्चित्त करे, प्रायश्चित्त को न छोड़े अन्यथा उसे पाप-फल भोगना पड़ेगा। हाँ शरणागत यदि सामर्थ्य रखता हो तो धर्मशास्त्रोक्त खास २ प्रायश्चित्त करे। असमर्थ होने पर उन पापों को नष्ट करने के लिये प्रायश्चित्त के रूप में श्रीभगवान की शरण में जाये। यह प्रायश्चित्त शरणागति दूसरी है। इससे मोक्षार्थ शरणागति में बाधा नहीं होती। सारांश यही है कि शरणागत को प्रायश्चित्त करना चाहिये।

**विगतऋणततिः**—यह साधक शरणागति के प्रभाव से सभी ऋणों से छूट जाता है। जन्म लेते ही इस जीवात्मा पर देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण नामक तीन ऋण चढ़ जाते हैं। वैश्वदेव से देवऋण को, वेदाध्ययनाध्यापन से ऋषिऋण को, प्रजोत्पादन से पितृऋण को उतारना पड़ता है। परन्तु शरणागत के ये ऋण शरणागति के प्रभाव से ही उतर जाते हैं। हमने कर्ज चुका दिया, ऐसा समझकर शरणागत को सदा प्रसन्न रहना चाहिये। शास्त्र में कहा गया है कि—

**देवर्षिभूतात्मनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।**
**सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं नारायणं लोकगुरुं प्रपन्नः॥**

अर्थात्—हे राजन्! यह जीव देव, ऋषि, भूतात्मा, मनुष्य और पितरों का कैङ्कर्य करने वाला नहीं है, न उनके प्रति कर्जदार ही है, जो शरण देने वाले लोकगुरु श्रीमन्नारायण भगवान की शरण में सर्वभाव से चला गया हो।

**द्वन्द्ववात्यां तितिक्षुः**—शरणागत उत्तरकाल में द्वन्द्वरूपी चण्ड-मारुतों के समूह को सहन करता रहे। शीत और उष्ण, सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय इन परस्पर विरुद्ध जोड़ियों को द्वन्द्व कहते हैं। ये द्वन्द्व एक के बाद एक करके चण्डमारुत की तरह वेग से उपस्थित होकर जीवों पर आघात पहुंचाते रहते हैं, शरणागत इन द्वन्द्वों के वेग को यह समझ कर सहन करे कि अनुकूल द्वन्द्वों के अनुभव से प्रारब्ध में पुण्यांश नष्ट होता है, प्रतिकूल द्वन्द्वों के अनुभव से प्रारब्ध में पापांश कट जाता है इस प्रकार पुण्य-पाप मिटने पर हम शीघ्र परमपद पहुंचकर अव्याकुल भाव से कैङ्कर्य करते रहेंगे। इस प्रकार विचार कर प्रपन्नों को द्वन्द्वों को सहन करना चाहिये।

**अनन्यो भक्तिज्ञानादिवृद्धिं परिचरणगुणान् युक्तां सत्समृद्धिं च नित्यं याचेत् तदपि भगवतो यद्वा तस्याप्तवर्गात्**—प्रपन्न उत्तरकाल में क्षुद्र प्रयोजनों को न चाहे, न माँगे। प्रपन्न भक्ति और ज्ञान इत्यादि आत्मगुणों की वृद्धि, कैङ्कर्य के लिये अपेक्षित सामग्री इत्यादि कल्याणकारी अर्थों को माँग सकता है तथा कैङ्कर्य के काम में आने वाली सत्पुरुषों की सम्पत् इत्यादि समृद्धि के लिये भी माँग सकता है। यदि सत्पुरुषों की समृद्धि कैङ्कर्य के उपयोग में न आने वाली हो तो नहीं माँगना चाहिये। यह माँग भी प्रपन्न श्रीभगवान से कर सकता है अथवा अनन्त, गरुड़, सुदर्शन और विष्वक्सेन इत्यादि से माँग सकता है जो श्रीभगवान के आप्त परिजन माने जाते हैं। ब्रह्मा, रुद्र, गणेश और काली इत्यादि देवतान्तरों से प्रपन्नों को कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। ये श्रीभगवान के सेवक होने पर भी शास्त्रों में अनाप्त परिजन कहे गये हैं। प्रपन्नों को जो कुछ कल्याणकारी माँग करना हो तो श्रीभगवान से अथवा उनके आप्त परिजनों से ही करना चाहिये। अतएव श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी ने **भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे** कहकर श्रीभगवान से भक्ति माँगी है। शास्त्र में कहा गया है कि—

तत्पादज्ञानभक्तिभ्यां फलमन्यत् कदाचन ।
न याचेत् प्रणतो विष्णुं याचनान्नश्यति ध्रुवम् ॥

अर्थात्—प्रपन्न श्रीभगवान के चरणारविन्दों के विषय में तत्त्वज्ञान और भक्ति को छोड़कर दूसरे किसी फल को कभी न माँगे, माँगने पर नष्ट हो जायेगा। यहाँ भक्ति और ज्ञान का उल्लेख अन्यान्य कल्याणकारी अर्थों के प्रदर्शनार्थ है ॥१९॥

(२०)

**आज्ञाकैङ्कर्यवृत्तिष्वनघगुरुजनप्रक्रियानेमिवृत्तिः**
**स्वार्हानुज्ञातसेवाविधिषु च शकने यावदिष्टं प्रवृत्तः ।**
**कर्म प्रारब्धकार्यं प्रपदनमहिमध्वस्तशेषं द्विरूपं**
**भुक्त्वा स्वाभीष्टकाले विशति भगवतः पादमूलं प्रपन्नः ॥**

पूर्वश्लोक में शरणागति के उत्तरकाल में ध्यान देने योग्य त्याज्य, संग्राह्य, अनुसन्धेय और प्रार्थनीय अर्थों का वर्णन किया गया है। इस श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी उत्तरकाल में प्रपन्नों के करने योग्य कैङ्कर्य का निरूपण करते हुए उपसंहार में कहते हैं कि प्रपन्नों को प्रारब्धभोग के अवसान में अवश्य श्रीभगवत्प्राप्ति होती है—

**प्रपन्न आज्ञाकैङ्कर्यवृत्तिष्वनघगुरुजनप्रक्रियानेमिवृत्तिः स्वार्हानुज्ञातसेवाविधिषु च शकने यावदिष्टं प्रवृत्तः**—प्रपन्न साधक उत्तरकाल में कैङ्कर्य करता रहता है। साधकों के लिये ध्यान देने योग्य दो पदार्थ हैं (१) उपाय और (२) फल। प्रपन्न के लिये श्रीभगवान उपाय बन जाते हैं। श्रीभगवान निरपेक्ष उपाय हैं इसलिये उत्तरकाल में प्रपन्न को किसी भी उपाय में हाथ लगाने की आवश्यकता नहीं है। फलानुभव में प्रवृत्त होना उचित है। भगवद्गुणानुभव के कारण होने वाली प्रीति से प्रेरित होकर प्रपन्न को कैङ्कर्य करना चाहिये। कैङ्कर्य ही परमफल है। वह कैङ्कर्य दो प्रकार का है। एक आज्ञाकैङ्कर्य है दूसरा अनुज्ञाकैङ्कर्य है। जिस कर्म से

श्रीभगवान का मुखोल्लास हो, उसे कैङ्कर्य कहते हैं। शास्त्रोक्त रीति से कर्म करने पर श्रीभगवान का मुखोल्लास अवश्य होता है क्योंकि शास्त्र श्रीभगवान के आदेश को बतलाता है। अपने आदेश के अनुसार कार्य करने वाले भृत्य पर स्वामी अवश्य प्रसन्न होते हैं। शास्त्रोक्त रीति से कार्य करना ही कैङ्कर्य है, उससे श्रीभगवान प्रसन्न होते हैं। आज्ञाकैंकर्य उसे कहते हैं जिस कार्य को कराने के लिये श्रीभगवान इस प्रकार आज्ञा देते हैं कि इस कार्य को अवश्य करो न करोगे तो तुम्हें प्रत्यवाय लगेगा अर्थात् दोष लगेगा। नित्य और नैमित्तिक कर्म आज्ञाकैंकर्य माने जाते हैं क्योंकि इन कर्मों को करने से विशेषफल न होने पर भी न करने से अवश्य प्रत्यवाय लगता है। नित्यकर्म उन्हें कहते हैं जो प्रतिदिन किये जाते हैं जैसे सन्ध्योपासन इत्यादि। नैमित्तिक कर्म उसे कहते हैं जो निमित्त आने पर किया जाता है जैसे ग्रहणस्नान इत्यादि। प्रपन्नों के द्वारा अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग इस प्रकार पाँच कालों में विभाग करके किये जाने वाले कर्म सभी नित्यकर्म हैं। नित्यनैमित्तिक कर्मों से श्रीभगवान प्रसन्न होते हैं। ये नित्य और नैमित्तिक कर्म आज्ञाकैंकर्य हैं। निर्दोष पूर्वाचार्यगण इन आज्ञा-कैंकर्यों का आचरण जिस प्रकार करते आये हैं उसी प्रकार प्रपन्नों को करना चाहिये। जिस प्रकार कुशल सारथि के द्वारा प्रेरित रथ के चक्र मार्ग में ही चलते हैं मार्ग से अणुमात्र भी हटते नहीं, उसी प्रकार पूर्वाचार्यों के द्वारा अनुष्ठित पद्धति के अनुसार प्रपन्नों को इन नित्यनैमित्तिक कर्मों को करना चाहिये। पूर्वाचार्यों की पद्धति को छोड़ने पर प्रत्यवाय लगने का भय है। यह तो आज्ञाकैंकर्य के विषय में बात हुई। अब अनुज्ञाकैंकर्य के विषय में निर्णय बतलाया जाता है। अनुज्ञाकैंकर्य उसे कहते हैं जिस कर्म के विषय में श्रीभग-वान इस प्रकार आदेश देते हैं कि यदि तुम चाहते हो तो इस काम को करो, न चाहते हो तो मत करो, कोई हानि नहीं। इस प्रकार दिये जाने वाले आदेश को ही अनुज्ञा कहते हैं। दिव्यदेश इत्यादि

में नाना प्रकार की सेवा करना इत्यादि अनुज्ञाकैंकर्य माना जाता है। इस कैंकर्य के विषय में श्रीभगवान का आदेश इस प्रकार का है कि यदि चाहो तो तुम दिव्यदेश इत्यादि में सेवा करो, न चाहने पर कोई निर्बन्ध नहीं। दिव्यदेशकैंकर्य अनुज्ञाकैंकर्य है, न करने पर कोई प्रत्यवाय नहीं। जिस प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्मों को न करने पर प्रत्यवाय लगता है, उसी प्रकार दिव्यदेशकैंकर्य इत्यादि अनुज्ञाकैंकर्य को न करने पर प्रत्यवाय नहीं लगता। अतएव सभी शिष्ट श्रीवैष्णव दिव्यदेशकैंकर्य इत्यादि में प्रवृत्त नहीं होते हैं। यदि दिव्यदेश कैंकर्य न करने पर प्रत्यवाय लगता तब प्रत्यवाय से बचने के लिये सभी श्रीवैष्णवों को दिव्यदेशकैंकर्य करना पड़ता। दिव्यदेशकैंकर्य में प्रवृत्त न होने पर भी सभी श्रीवैष्णवों को दिव्यदेश में विराजने वाले श्रीभगवान का दर्शन और तीर्थप्रसाद ग्रहण करना चाहिये तथा स्वगृह में विराजमान सालग्राम इत्यादि श्रीमूर्तियों की सेवा अवश्य करनी चाहिये 'क्योंकि ये सब नित्यकर्म में आ जाते हैं, इज्या नित्यकर्मों में अन्यतम है। कहने का सारांश यह है कि प्रपन्नों को नित्यनैमित्तिककर्मरूपी आज्ञाकैंकर्य को अवश्य करना चाहिये, न करने पर प्रत्यवाय लगेगा, प्रत्यवाय लगने पर वह दिव्यदेशकैंकर्य इत्यादि अनुज्ञाकैंकर्य करने का अधिकारी न होगा। अनधिकारी के द्वारा अनुष्ठित वह अनुज्ञाकैंकर्य भी व्यर्थ हो जायेगा। अनुज्ञाकैंकर्य करने वालों को भी आज्ञाकैंकर्य अनिवार्य है। कई आचार्यों का यह उपदेश कि—प्रपन्न आज्ञाकैंकर्य त्याग करके भी दिव्यदेशकैंकर्य इत्यादि अनुज्ञाकैंकर्य करें—आज्ञा और अनुज्ञा शब्दों के अर्थों को अच्छी तरह से हृदयंगम न करने के कारण हो रहा है। कल्याणकामी सज्जनों को इससे सावधान रहना चाहिये। अनुज्ञाकैंकर्य के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रपन्न अपने वर्णाश्रम के अनुसार शास्त्रविहित अनुज्ञाकैंकर्य करें, वह भी शक्ति होने पर करें, अपनी इच्छा के अनुसार करें, अधिक करने की इच्छा होने पर अधिक करें, कम करने की इच्छा होने पर कम

कैंकर्य करें। अनुज्ञाकैंकर्य में 'इतना ही करना चाहिये' ऐसा कोई नियम नहीं। शक्ति होने पर जहाँ तक इच्छा हो वहाँ तक करें। आज्ञाकैंकर्य में कमी बेसी की बात नहीं, पूरा ही करना चाहिये।

**प्रपन्नः प्रपदनमहिमध्वस्तशेषं द्विरूपं प्रारब्धकार्यं कर्म भुक्त्वा स्वाभीष्टकाले भगवतः पादमूलं विशति**—प्रपन्न निम्नलिखित रीति से कर्म नष्ट होने पर श्रीभगवान को प्राप्त करता है। प्रपन्न के प्राचीन कर्म दो प्रकार के हैं, एक संचितकर्म दूसरे प्रारब्धकर्म। संचितकर्म उस प्राचीन कर्म को कहते हैं जो इस जन्म में फल देने वाला नहीं किन्तु अगले जन्मों में फल देने वाला है। प्रारब्धकर्म उस प्राचीन कर्म को कहते हैं जिसने इस जन्म में फल देना प्रारम्भ कर दिया है। संचितकर्मों का एक देश ही प्रारब्ध बनकर इस जन्म में फल देता है। प्रारब्ध एक ही जन्म में समाप्त हो जायेगा ऐसा कोई नियम नहीं है। कई प्रारब्ध दो चार जन्मों में भी अनुवृत्त होकर फल दे सकते हैं। अस्तु। शरणागति सम्पन्न होते ही प्रपन्न के सम्पूर्ण संचितकर्म नष्ट हो जाते हैं। इसे ही 'पूर्वाघ-विनाश' कहते हैं। भक्तियोगनिष्ठ का भी पूर्वाघविनाश हो जाता है अर्थात् उसके भी सम्पूर्ण संचितकर्म नष्ट हो जाते हैं। भक्तियोग-निष्ठ को प्रारब्धकर्म पूरा भोगना पड़ता है, पूरा भोगने के बाद ही वह मुक्त हो सकता है। प्रपन्न को सम्पूर्ण प्रारब्ध नहीं भोगना पड़ता किन्तु प्रपन्न जितना प्रारब्ध भोगना चाहता है उतना ही प्रारब्ध उसे भोगना पड़ता है। प्रारब्ध के जितने अंश को प्रपन्न भोगना नहीं चाहता उतना प्रारब्ध बिना भोगे ही शरणागति की महिमा से नष्ट हो जाता है। यही भक्तियोग से शरणागति में विशेषता है। इसे उदाहरण के द्वारा समझना चाहिये। प्रपन्न दो प्रकार के हैं, एक दृप्तप्रपन्न दूसरे आर्तप्रपन्न। आर्तप्रपन्न उसे कहते हैं जो शरणागति सम्पन्न होते ही मोक्ष चाहता है आगे एकक्षण के लिये भी संसार में रहना नहीं चाहता। इस आर्त-प्रपन्न का वह पूरा प्रारब्ध नष्ट हो जाता है जो आगे फल देने के

लिये सन्नद्ध था, आर्तप्रपन्न के प्रारब्ध का अणुमात्र अंश भी नहीं बचता, पूरा प्रारब्ध नष्ट हो जाता है। दृप्तप्रपन्न उसे कहते हैं जो तब तक संसार में रहना चाहता है जब तक यह शरीर रहे। यह शरीर छूटते ही मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। दृप्तप्रपन्न का उतना ही प्रारब्धांश रह जाता है जिसे इस देह में भोगना पड़ता है। अगले जन्मों में फल देने वाला अवशिष्ट प्रारब्ध शरणागति के प्रभाव से नष्ट हो जाता है। उस प्रारब्ध को अनभ्युपगत प्रारब्ध कहते हैं क्योंकि उसको भोगने के लिये दृप्तप्रपन्न की स्वीकृति नहीं है। इस शरीर के रहते फल देने वाले जितने प्रारब्ध भाग को भोगने के लिये प्रपन्न ने स्वीकृति दी है, उसे अभ्युपगत प्रारब्ध कहते हैं। यह प्रारब्ध पुण्य और पाप से मिश्रित है। प्रपन्न को इतने भर को भोगना पड़ता है। इसको भोग कर प्रपन्न अपने उद्दिष्टकाल में अर्थात् आर्तप्रपन्न अनन्तर क्षण में, दृप्तप्रपन्न शरीर छूटने के बाद स्वरूप, रूपगुण, विभूति और लीलाओं से समेत श्रीमन्नारायण भगवान के दिव्यचरणारविन्दों को प्राप्त करता है। शरीर छूटने के बाद अर्चिरादिमार्ग से परमपद पहुंचता है, वहाँ स्वरूपाविर्भाव को प्राप्त कर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य पद पर पहुंचता है, श्रीभगवान के दिव्यचरणारविन्दों को सिर से धारण करता हुआ श्रीभगवदनुभव से होने वाली प्रीति से प्रेरित होकर सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वावस्थाओं में उचित नानाविध कैङ्कर्य करता हुआ अपने को धन्य धन्य मानता है। श्रीभगवान के चरणारविन्दों के नीचे प्रविष्ट होकर अभय हो जाता है ॥२०॥

(२१)

**श्रुत्या स्मृत्यादिभिश्च स्वयमिह भगवद्वाक्यवर्गैश्च सिद्धां**
**स्वातन्त्र्ये पारतन्त्र्येऽप्यनितरगतिभिः सद्भिरास्थीयमानाम् ।**
**वेदान्ताचार्य इत्थं विविधगुरुजनग्रन्थसंवादवत्या**
**विंशत्या न्यासविद्यां व्यवृणुत सुधियां श्रेयसे वेङ्कटेशः ॥**

पूर्वश्लोक में प्रपन्न के कर्तव्य, कैङ्कर्य और श्रीभगवत्प्राप्ति वर्णित हैं। श्रीदेशिक स्वामी जी इस श्लोक से इस ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—

**इह श्रुत्या स्मृत्यादिभिश्च स्वयं भगवद्वाक्यवर्गैश्च सिद्धाम्—** श्रीदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि इस ग्रन्थ में कुल बीस श्लोक हैं जो न्यासविद्या अर्थात् शरणागति का वर्णन करने के लिये प्रवृत्त हैं। इस ग्रन्थ का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ 'न्यासविद्या' है। अतएव इस ग्रन्थ का **न्यासविंशति** ऐसा नाम रक्खा गया है। इस ग्रन्थ का प्रधान प्रतिपाद्य विषय 'न्यासविद्या' श्रुतिस्मृति, इतिहास और पुराणों से प्रमाणित है इतना ही नहीं किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता, वराहपुराण, श्रीपाञ्चरात्र और श्रीवाल्मीकिरामायण युद्धकाण्डान्तर्गत अभय-प्रदान प्रकरण इत्यादि श्रीभगवद्वाक्यों से भो भलीभाँति प्रमाणित है। इस प्रकार सुद्दढ़ प्रमाणों से सिद्ध इस शरणागति के विषय में सन्देह करना निरी मूर्खता है तथा दौर्भाग्य का सूचक है।

**स्वातन्त्र्ये पारतन्त्र्येऽप्यनितरगतिभिः सद्भिरास्थीयमानाम्—** सब मुमुक्षु साधक इस शरणागति का आश्रय लेते हैं। शरणागति दो प्रकार की है, एक स्वतन्त्र है दूसरी परतन्त्र है। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्याओं में न्यासविद्या को छोड़कर अन्यान्य जितनी ब्रह्मविद्यायें हैं वे उपासन, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति तथा भक्तियोग शब्द से व्यवहृत होती हैं। न्यासविद्या हो प्रपत्ति, शरणागति और त्याग इत्यादि शब्दों से व्यवहृत होती है। मुमुक्षु साधक दो प्रकार के हैं एक स्वतन्त्रप्रपत्तिनिष्ठ हैं, दूसरे परतन्त्रप्रपत्तिनिष्ठ हैं। भक्तियोग की साधना करने वाले साधक परतन्त्रप्रपत्तिनिष्ठ कहलाते हैं क्योंकि उन्हें भी भक्तियोगारम्भ के विरोधो पापों को नष्ट करने के लिये दूसरी गति न होने के कारण शरणागति करनी पड़ती है तथा श्रीभगवान से इस प्रकार प्रार्थना करनी पड़ती है कि हे प्रभो! भक्तियोग के विरोधी पापों को नष्ट करने के लिये जितने प्रायश्चित्तों को करना चाहिये उतने प्रायश्चित्तों को करने में मैं सर्वथा असमर्थ

हूँ, मैं अपने ऊपर लदे हुए प्रायश्चित्तभार को आपके चरणों में अर्पित करता हूँ, आप ही मेरे लिये उपाय बनकर उन पापों को नष्ट कीजिये जिनके कारण भक्तियोग की उत्पत्ति तथा वृद्धि में बाधा पड़ती है। आप उन पापों को नष्ट कर भक्तियोग को उत्पन्न कीजिये तथा बढ़ाइये। इस प्रकार भक्तियोगनिष्ठ साधकों के द्वारा की जाने वाली शरणागति परतन्त्रशरणागति कहलाती है क्योंकि यह भक्तियोग का अङ्ग बनकर उसे उत्पन्न करती तथा बढ़ाती है। इस प्रकार साधनान्तरों में लगे हुए साधकों को भी परतन्त्र रूप में ही सही शरणागति का आश्रय लेना पड़ता है। शरणागति करने पर ही उनका साधनान्तर सधता है तथा फल मिलता है। दूसरे मुमुक्षु साधक स्वतन्त्रशरणागति का आश्रय लेते हैं। वे मोक्षप्राप्ति अर्थात् भगवत्प्राप्ति के विरोधी पापों को नष्ट कर श्रीभगवान को प्राप्त करना चाहते हैं। भगवत्प्राप्ति के विरोधी पापों को नष्ट करने के लिये प्रायश्चित्त रूप में जिन ब्रह्मविद्याओं का अनुष्ठान शास्त्रों से विहित है, उन ब्रह्मविद्याओं को सँभालने में जो साधक अपने को सर्वथा असमर्थ पाते हैं वे मुमुक्षु स्वतन्त्र शरणागति का आश्रय लेते हैं तथा श्रीभगवान से निवेदन करते हैं कि हे श्रीभगवन्! मैं आपको प्राप्त करना चाहता हूँ, आपकी प्राप्ति में बाधक बने हुए पापों को ब्रह्मविद्या से नष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हूँ क्योंकि मैं ब्रह्मविद्या का अधिकारी ही न रहा। अपने सिर पर लदे हुये इस ब्रह्मविद्यारूपी भार को आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। आप ही इस दीन के लिये कृपया उपाय बनकर अपनी प्राप्ति में बाधा डालने वाले पापों को नष्ट कर अपने पास बुला लीजिये। इस स्वतन्त्रप्रपत्ति को करने वालों को आगे साधनान्तर में हाथ नहीं डालना पड़ता स्वतन्त्रप्रपत्ति से ही उनके मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। इनके ऊपर श्रीभगवान किसी कर्तव्यभार को न लाद कर सब भार को स्वयं वहन करके भगवत्प्राप्ति विरोधी सब पापों को नष्ट करते हैं तथा अपनी प्राप्ति

करा देते हैं। कहने का सारांश यही है कि चाहे परतन्त्र रूप में हो चाहे स्वतन्त्र रूप में हो, सभी ब्रह्मज्ञानी मुमुक्षु साधकों को शरणागति का आश्रय लेना पड़ता है। शरणागति सर्वफलप्रद है।

**न्यासविद्यां विविधगुरुजनग्रन्थसंवादवत्या विंशत्या सुधियां श्रेयसे वेदान्ताचार्यो वेङ्कटेश इत्थं व्यवृणुत**—उपर्युक्त महिमसम्पन्न न्यासविद्या अर्थात् शरणागति का खुलासा, इस प्रकार स्पष्ट विवेचन श्रीवेङ्कटनाथ स्वामी जी ने किया, जिन्होंने विद्वत्ता से प्रसन्न श्रीरङ्गनाथ भगवान से उस वेदान्ताचार्य विरुद को प्राप्त किया है जो अभी तक किसी को नहीं मिला था। श्रीदेशिक स्वामी जी का ही दूसरा नाम वेङ्कटनाथ है, जो नामकरण संस्कार में रक्खा गया था। यह विवेचन नाना प्रकार के पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से मेल रखने वाले बीस श्लोकों से किया गया तथा इस कल्याणकामना से किया गया कि विद्वान् न्यासविद्या के शास्त्रीय रूप को समझकर अनुष्ठान के द्वारा श्रेय के भागी बनें। इस ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का समन्वय किया गया, पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में वर्णित अर्थों को लेकर यह ग्रन्थ निर्मित हुआ ॥२१॥

(२२)

**संसारावर्तवेगप्रशमनशुभदृग्देशिकप्रेक्षितोऽहं**
**सन्त्यक्तोऽन्यैरुपायैरनुचितचरितेष्वद्य शान्ताभिसन्धिः।**
**निश्शङ्कस्तत्त्वदृष्ट्या निरवधिकदयं प्रार्थ्य संरक्षकं त्वां**
**न्यस्य त्वत्पादपद्मे वरद निजभरं निर्भरो निर्भयोऽस्मि ॥**

---

**इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु न्यासविंशतिः सम्पूर्णा ॥**

कवितार्किकसिंहाय कल्याणगुणशालिने ।
श्रीमते वेङ्कटेशाय वेदान्तगुरवे नमः ॥

---

पूर्वश्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी ने यह बतलाया कि श्रीभगवच्छरणागति परमपुरुषार्थ मोक्ष को देने वाली है, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और पाञ्चरात्र इत्यादि श्रीभगवान की वाणियों से प्रमाणित है। यह शरणागति स्वतन्त्र और परतन्त्र रूप को धारण कर मनोरथों को पूर्ण करती है। इसका प्रवचन करने वाले पूर्वाचार्य हैं। उनके स्तोत्ररत्न और गद्यत्रय इत्यादि ग्रन्थों का सार लेकर यह न्यासविंशति ग्रन्थ विद्वानों के कल्याणार्थ निर्मित हुआ है। अगले उपसंहार श्लोक में श्रीदेशिक स्वामी जी सबको अनायास समझने के लिये उपर्युक्त साधन का अर्थात् शरणागति का वर्णन अपने अनुष्ठान के द्वारा करते हैं—

**हे वरद ! संसारावर्तवेगप्रशमनशुभदृग्देशिकप्रेक्षितोऽहमन्यैरुपायैः सन्त्यक्तोऽद्यानुचितचरितेषु शान्ताभिसन्धिस्तत्त्वदृष्ट्या निःशङ्को निरवधिकदयं संरक्षकं त्वां प्रार्थ्य त्वत्पादपद्मे निजभरं संन्यस्य निर्भरो निर्भयोऽस्मि**—हे श्रीवरदराज भगवन्! आप सबको वर देने वाले हो, उन २ के अभिमत वरों को देने वाले हो, यहाँ तक कि मोक्ष तक को देने वाले हो अतएव आपका 'वरद' नाम पड़ा। मैं अब तक संसाररूपी नदी में बहता रह गया, इस संसार नदी के भँवरों के चक्र में फँसकर कभी नीचे रसातल तक पहुंचता था कभी ऊपर सत्यलोक तक पहुंचता था, इन भँवरों के वेग से मैं छुटकारा नहीं पा सका। अभी सौभाग्यवश श्रीमदाचार्यवर्य की करुणापूर्ण शुभ दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी उसका यह चमत्कार है कि संसार नदी के भँवरों का वेग शान्त हो गया है, मैंने अभी सत्ता पाई, आचार्यों के सदुपदेश से तत्वहित और पुरुषार्थ को जान लिया है भगवत्प्राप्ति के लिये लालसा बढ़ रही है। दुःख की बात है कि भगवत्प्राप्ति कराने वाले साधनों में हाथ लगाने के योग्य मैं नहीं रह गया हूँ। मैंने उन उपायों को छोड़ दिया है सो बात नहीं किन्तु वे उपाय ही मुझे छोड़कर अलग हो गये हैं। अपनाई हुई वस्तु का ही त्याग होता है, जब मैंने साधनान्तरों को अपनाया ही नहीं तब किसका

त्याग करूँ, वास्तव में बात यह है कि उन उपायान्तरों ने ही मुझे छोड़ दिया है, यह मेरी अत्यन्त दयनीय स्थिति है, मैं उपायान्तर करने के योग्य न रहा। मेरी यह दुर्दशा ही कार्पण्य कहलाती है। अब मैं पक्का संकल्प करता हूँ कि आज से मैं आपके प्रतिकूल कार्य न करूँगा, आपके अनुकूल कार्य ही करूँगा। मैंने उन दुर्विचारों को छोड़ दिया है जिनसे प्रतिकूल कार्य होते थे, मैंने उन सद्विचारों को अपनाया है जिनसे आपके अनुकूल कार्य संपन्न होता है। यह मेरा प्रातिकूल्यवर्जन तथा आनुकूल्यसंकल्प है। आचार्यों के सदुपदेश से मैंने स्वस्वरूप और परस्वरूप इत्यादि को स्पष्ट जान लिया है, इस तत्वज्ञान के प्रभाव से मेरे मन से सभी शङ्कायें दूर हट गई हैं, अब मुझे पक्का विश्वास हो रहा है कि आप मेरी रक्षा अवश्य करेंगे। यह मेरा महान् विश्वास है। अपारदयासंपन्न तथा जीवरक्षा में नित्योद्युक्त आप से मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप कृपया मेरे लिये रक्षक बन जाइये। इस प्रार्थना के अलावा अधिक मैं क्या कर सकता हूँ? यही मेरा गोप्तृत्ववरण है। आपके चरणारविन्दों में मैं उस भार को समर्पित कर देता हूँ जो अबतक मेरे सिर पर लदा था। भगवत्प्राप्ति के लिये उत्सुक मैंने अपने सिर पर लदे हुये अर्थात् अवश्यकर्तव्य साधनभार को आपके यहाँ सौंप दिया। आप ही उपाय बनकर अपनी प्राप्ति में बाधा डालने वाले पापों को नष्ट कर अपनी प्राप्ति कराइये तथा मुझसे नानाविध सेवा लेकर प्रसन्न हो जाइये। आपके चरणों में भार को समर्पित कर मैं भारमुक्त, निर्भय तथा संप्रसन्न हो गया हूँ, निश्चिन्त हो गया हूँ। इस प्रकार श्रीदेशिक स्वामी जी ने अपने अनुष्ठान के द्वारा साङ्ग भरन्यास की प्रक्रिया को स्पष्ट बतलाया है।

सारांश यह है कि कल्याणकामी सज्जन सर्वप्रथम सदाचार्य का आश्रय लें, आचार्य के सदुपदेश से मन्त्र, मन्त्रार्थ और तत्वज्ञान को प्राप्त करें। क्लेशसाध्य उपायान्तरों को निभाने के लिये अपेक्षित ज्ञान और शक्ति आदि के अभाव को अपने में देखकर दुःखी होते

हुये सरल उपाय शरणागति को देखकर धैर्य धारण करें । हम शरणागति कर सकते हैं यह जानकर प्रसन्न होते हुये फलसंग और कर्तृत्व को त्याग कर सांग भारसमर्पण करके कृतकृत्य हो जायें । रक्षाभार को अपने ऊपर लेने वाले श्रियःपति श्रीमन्नारायण भगवान को देखकर निर्भर और निर्भय बन जायें, स्वयं प्रयोजन मानकर कैङ्कर्य करते हुये कृतार्थ बन जायें ॥२२॥

---

इस प्रकार कवितार्किकसिंह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीमद्वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य स्वामी जी के ग्रन्थों में न्यासविंशति ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ ॥

---

इस प्रकार श्रीभाष्यसिंहासनाधिपति देशिकदर्शनधुरन्धर वेदान्तविद्यानिधि पण्डितरत्न श्रीनालमेघाचार्य शिरोमणि के ग्रन्थों में न्यासविंशति की हिन्दी व्याख्या सम्पूर्ण हुई ॥

